गद्य रत्नावली

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

प्रकाशकीय

'गद्य रत्नावली' को पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हमें बड़े हर्ष का अनुभव हो रहा है।

भाषा और विषय दोनों दृष्टियों से यह संग्रह उच्च स्तर का है। इसमें हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ गद्यकारों की उत्तम रचनाएँ दी गयी हैं। विषयों के चुनाव में विविधता का ख्याल रखा गया है। हिन्दुस्तानी शैली से परिचित कराने के उद्देश्य से 'खून का बदला' नामक नाटकीय लेख इस संग्रह में जोड़ा गया है।

डा० भगीरथ मिश्र लिखित 'हिन्दी गद्य का विकास' भूमिका के रूप में पुस्तक के प्रारंभ में दिया गया है, जिससे हिन्दी विद्यार्थियों को हिन्दी गद्य के विकास का चित्र मिल सके।

जिन महानुभावों के लेखों से 'रत्नावली' सजायी गयी है, उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

विषय—सूची

हिन्दी गद्य का विकास

डा० भगीरथ मिश्र

गद्य का प्रयोग भाषा के व्यापक उपयोग का द्योतक है। जब जीवन का बहुमुखी एवं बहुविधि कार्य किसी भाषा में होने लगता है, तभी उस भाषा के गद्य का विकास होता है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि साहित्य जीवन से दूर नहीं, वरन् उसके नित्य प्रति के रूप में समीप आ रहा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में गद्य का प्रयोग आधुनिक युग की विशेषता है। आधुनिक काल हिन्दी साहित्य का गद्य-युग कहलाता है। इसका पहला कारण तो यही है कि इस युग में गद्य का विकास प्रचुर मात्रा में हुआ है। कहा जा सकता है कि जितने ग्रंथ गद्य के लिखे गये या लिखे जाते हैं, उतने पद्य के लेखक या कवि नहीं। दूसरा कारण यह है कि इस युग का साहित्य सर्वसाधारण से संबन्ध रखता है। वह केवल राजाओं, अमीरों और दरबारियों के मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है, अतः यह स्वभाविक है कि उसे सर्वसाधारण की भाषा में होना चाहिए। सर्व-

साधारण की भाषा मे होना चाहिए। सर्वसाधारण की भाषा गद्य ही है, अतः यह साहित्य गद्य में अधिक प्रकट हुआ है। तीसरा कारण यह है कि दैनिक जीवन और सामयिक महत्व का साहित्य इस युग में अधिक लिखा गया। पूर्ववर्ती युगों में कवि या लेखक शाश्वत अथवा सर्वकालीन महत्व के ग्रंथ या लेख लिखता था या रचना करता था; परन्तु आजकल पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन से उनमें अधिकांश सूचनात्मक गद्य में रहता है, अतः हम आधुनिक युग में गद्य के अधिक अभ्यस्त हो गये हैं। चौथा कारण यह है, आज का युग बुद्धिवादी युग है। विज्ञान के विकस ने मनुष्य को तर्कशील बौद्धिक बना रखा है। वह धीरे-धीरे अपनी भावुकता और कल्पनाशीलता खोता जा रहा है। तर्क आदि का साहित्य भी गद्य में ही रहता है। पद्य में तर्क से अधिक कल्पना और अनुभूति को छूनेवाले वर्णन रहते हैं। ललित साहित्य के अन्तर्गत भी कविता की अपेक्षा कथा-कहानियों, जीवनी-साहित्य, निबंध आदि का विकास हुआ है, जिनमें लिपिबद्ध होकर गद्य शाश्वत महत्ता को अपना चुका है। एक और कारण यह है कि कविता को लिखने, पढ़ने, मनन करने और रस लेने में हमें समय की अपेक्षा होती है। समय प्रतिबन्ध में कविता का पूर्ण रसास्वादन नहीं किया जा सकता। अतएव गद्य-साहित्य के

विविध रूपों का प्रचुर मात्रा में विकास आधुनिक युग की विशेषता है। इसीसे यह गद्य-युग कहलाता है।

प्रारम्भिक युग

उपर्युक्त विश्लेषण से यह न समझना चाहिए कि आधुनिक काल के पहले, गद्य लिखा ही न जाता था। गद्य का प्रयोग होता था, पर इतने व्यापक रूप में न होता था। अधिकांश पूर्ववर्ती युगों में व्रजभाषा-गद्य देखने को मिलता है। हिन्दी का सबसे प्राचीन गद्य सन् १४०० ई॰ के आसपास का माना जाता है। गोरख-गोष्ठियों के गद्य को यदि गोरखनाथ का माना जाए, तब तो वह सन् १००० ई॰ के आसपास ठहरता है। परन्तु यदि वह नाथपंथी साधुओं का गद्य माना जाए, तो भी सन् १४०० ई. के पहले का ही है अतः व्रजभाषा के प्रारम्भिक गद्य का स्वरूप यही है। इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। है कैसे परमानन्द। आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्ह को। जिन्हीं के नित्य गावैं है सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरष सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत है। है कैसे वे मछन्दरनाथ। आत्माज्योति

निश्चल है अन्तहकरण जिन्हको अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानैं। अरु जुगकाल कल्प इनकीं रचनातत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिन्ह को मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हें तो सतगुरु अम्हैं तो सिब सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस। नीरारंभे चेला कूंण बिधि रहे।"

इस उद्धरण से यह निश्चित है कि यह गद्य व्रजभाषा के ढाँचे में ढला है, परन्तु इसमें पूरबी, राजस्थानी बोलियों की शब्दावली भी मिली है।

इसी प्रकार कुमुटिया के नाम से मिले हठयोग से संबंध रखनेवाले ग्रन्थ की भाषा देखिए। इसका लिपिकाल सन् 1840 ई, है, फिर भी मूल ईसा की चौदहवीं शताब्दी के आसपास का ही होगा—

"अजपा जपन्ती महामुनी इति ब्रह्मचक्र जाप प्रभाव बोलिये। ब्रह्मचक्र ऊपर गुह्यचक्र सीस मंडल स्थाने बसै। इकईस ब्रह्मांड बोलियें। परम सून्य स्थान ऊपर जे न बिनसे न आवै न जाई जोग जोगेन्द्र है समाई। सुनौ देवी पार्वतीं ईश्वर कथिते महाज्ञान।"

इस उद्धरण में संस्कृत का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और यह अधिक शास्त्रीय है।

ईसा की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में लिखी

गयी राधावल्लभीय संप्रदाय के स्वामी हितहरिवंश की एक पत्री उस समय के व्रजभाषा-गद्य का नमूना प्रस्तुत करती है—

"श्रीमुख पत्रौ लिखित । श्री सकल गुण संपन्न रसरीति बहावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग्य लिखति श्री वृंदावन रजोपसेवी श्री हरिवंश जोशी सुमिरन बंचनौ। जोरी सुमिरन मत रहौ। जोरी जो हैं सुख बरखत है। तुमकूँ सुख स्वरूप है। तिहरे हस्ताक्षर बारंबार आवत है। सुख अमृत स्वरूप है। बाँचत आनन्द उमड़ि चले हैं। मोरीं बुद्धि कौ इतनी शक्ति नहीं कि कहि सकौ..." आदि।

यह पत्री हितहरिवंश ने गोसाईं विट्ठलदास को लिखी थी। इसका समय 1595 वि. (सन् 1538 ई. है। इसी प्रकार के व्रजभाषा-गद्य के नमूने हमें अन्य चिट्ठी-पत्रियों में मिलते हैं। वल्लभाचार्य के शिष्यों में हरिराम की वार्ता में भी व्रजभाषा-गद्य के नमूने हमें मिलते हैं। ये नमूने सोलहवीं शताब्दी के मध्य और अन्तिम चरण के हैं। ये बोलचाल की व्रजभाषा के गद्य के सुन्दर नमूने हैं। स्वामी हरिरामजी की 'भाव-भावना' की पंक्तियाँ हैं—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया है, सो सब स्वामिनी के भावते हैं। ताते मंगल चरण गावें!

प्रथम श्री स्वामिनीजी के चरणकमल को नमस्कार करते हैं। तिनकी उपमा देवे को मन दसो दिसा दौरियो। परन्तु कहूँ पायो नहीं।"

इसी प्रकार का व्यवस्थित व्रजभाषा गद्य विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ का 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में मिलता हैं, जिसका समय सोलहवीं शताब्दी ईसवी का चतुर्थ चरण है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

'तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यो जो सूर आवौ बैठौ। तब सूरदास आचार्यजी महाप्रभून के दर्शन करिकै आगे आय बैठे। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कुछ भगवत यश वर्णन करो। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा।'

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस गद्य पर संस्कृत का प्रभाव नहीं है और 'कि' के स्थान पर 'जो' का प्रयोग है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' इसके बाद की है, अतः उसमें गद्य का रूप परिवर्तित भी जान पड़ता है। इन वार्ताओं के अतिरिक्त पत्रों, पंचनामों, टीकाओं, भाष्यों आदि का गद्य भी इस युग का मिलता है। टीकाओं और भाष्यों का गद्य संस्कृत के प्रभाव से ओतप्रोत है। जैन कवि बनारसीदास का सन् १६१३ ई० में का एक नमूना इस प्रकार है—

'सम्यक् दृष्टि कहा? सो सुनो। संशय, विमोह, विभ्रम तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यक् दृष्टि! संशय विमोह, विभ्रम कहा? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।'

व्रजभाषा के अतिरिक्त, शताब्दी के बाद का राजस्थानी गद्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। राजस्थानी गद्य के भी दो रूप देखे जा सकते हैं। एक संस्कृत मिश्रित और दूसरा ठेठ बोलचाल का। सन् १६४६ ई० में लिखी गयी 'बेलि क्रिसन रुक्मणी री टीका' का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

'प्रथम ही परमेश्वर कूँ नमस्कार करै छै। पाछे सरसती कूँ नमस्कार करै छै। पाछै सतगुरु कूँ नमस्कार करै छै। ऐ तीन्यूं तत्तसार छै। मंगल रूप माधव छै। तें को गुणानुवाद कीजे। जा उपरांत मंगलचार कोई नहीं छै।'

यों हम देखते हैं कि व्रजभाषा और राजस्थानी गद्य की परम्परा बराबर चली आती है। अधिकांश यह गद्य टीकाओं और वार्ताओं में मिलता हैं, परन्तु जीवनियों और कथा-कहानियों के नमूने भी देखे जा सकते हैं।

रीतियुग के प्रारंभ के साथ संस्कृत काव्यशात्र तथा हिन्दी काव्यशास्त्र ग्रन्थों के अनुवाद, टीका

अथवा व्याख्याएँ गद्य में देखने को मिलती हैं। यह गद्य संस्कृत शब्दावली से भरपूर व्रजभाषा-गद्य है। सन् १८३० ई० के आसपास लिखी हुई चिन्तामणि के द्वारा व्रजभाषा रूपान्तरित 'शृंगारमंजरी' के गद्य का एक नमूना यहाँ पर दिया जाता है। यह ग्रंथ नायिकाभेद का है—

'रसमंजरीकार का लक्षण। स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया। याकों अर्थ स्वामी ही विसे जो अनुराग राखे सो स्वीया! यहाँ एवकार अप्रयोजक है क्यों अप्रयोजक है यह जो कोऊ कहै तौ एवकार करि स्वामि ही में अनुराग यह निर्धारित होता है, केवल स्वामी ही में अनुराग कहियै तौ परकीया के हेतु है स्वीया ई परपुरुषानुराग सों परकीया होत है...।'

यह पंडिताऊ व्रजभाषा का नमुना है। इसी प्रकार का व्रजभाषा गद्य रीतिशास्त्र पर लिखने वाले अनेक काव्यचार्यों, जैसे कुलपति, श्रीपति, सोमनाथ आदि का भी मिलता है। सूरति मिश्र की 'बैताल पच्चीसी' का व्रजभाषा-गद्य में अनुवाद भी इसी युग का है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों का गद्य इसी प्रकार है। टीकाओं में सतसई और केशवदास

की रसिकप्रिया की टीकाएँ खूब हुई। सन् १८०० ई० से फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के बाद हिन्दी गद्य का स्वरूपविकास हुआ, क्योंकि अब गद्य की पुस्तकें पाठ्यक्रम के लिए चाहिए थीं। अतएव लल्लुलालजी और सदल मिश्र ने 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचनाएँ व्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली में कीं। इसी बीच मुंशी सदासुखलाल ने सन् १८११ ई. में 'सुखसागर तरंग' की रचना की। यह श्रीमद् भागवत का स्वतन्त्र अनुवाद था, जिसे मुँशीजी ने मौज ही के समय लिखा था। 'सुखसागर तरंग' शताब्दी की खड़ीबोली गद्य की साहित्यिक रचना कहना चाहिए। इसके गद्य का नमूना है—

यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने! विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और अपने निज स्वरूप में लय हूजिये और इस हेतु नहीं पढ़ते कि चतुराई की बात करिकै लोगों को बहकाइये और फुसलाइए और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरपान कीजियें।'

यह उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में खड़ी-बोली लिखने का पहला प्रयत्न था। अतः यह स्वाभाविक है कि इसमें उस समय की काव्य-भाषा का प्रभाव दिखलाई दे।

वैसे खडीबोली गद्य का नमूना भी पहले मिलता है। गंगा कवि कृत 'चन्द छंद बरनन की महिमा' नामक ग्रन्थ का गद्य जिसका रचनाकाल सन् 1750 ई० के आसपास है, ख़ड़ींबोली का अकबर के समय का नमूना है, पर यह ग्रन्थ देखने में नहीं आया। यही उद्धरण उसका मिलता है—

"सिद्धि श्री 108 श्री पातसाहजी दलपतिजी अकबर साहि आम खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुरनिश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक परि बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसिल से। जिनकी बैठक नहीं रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़के खड़े ताज़ीम में रहें।

यह जैसे दरबार का आँखों देखा हाल है, इस बात का द्योतक है कि ख़ड़ीबोली का दिल्ली के आसपास व्यवहार की भाषा के रूप में इस प्रकार का प्रयोग होता था।

खड़ीबोली गद्य के और भी नमूने मिलते हैं। सन् 1780 ई० के लगभग रामप्रसाद निरंजनी ने

योगवाशिष्ठ को 'भाषा' में लिखा। इस ग्रन्थ की भाषा काफ़ी प्रौढ़ जान पड़ती है। उसका उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग भय क्रोध से रहित रहोगे"

इसी प्रकार सन् 1761 ई० में 760 पृष्ठों में दौलतराय के द्वारा किया गया पद्मपुराण का खड़ीबोली में अनुवाद भी यह सिद्ध करता है कि व्रजभाषा-गद्य के समान खड़ीबोली गद्य की भी परम्परा थी, उसे ढूंढ़ निकालने की बात है। इस पद्मपुराण के लेखक हैं दौलतराय। उनके गद्य का नमूना यह है—

"जंबु द्वीप के भारत क्षेत्र विषै मगधनामा देश अित सुन्दर है जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं इन्द्र के लोक के समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमी विषै साँटेन के बाड़े शोभायमान है, जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं"

यह है उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी गद्य का स्वरूप। इसे देखकर यह प्रमाणित हो जाता है कि खड़ीबोली गद्य की भी परम्परा थी और यह समझना भ्रम है कि फोर्ट विलियम कालेज

में ही खड़ीबोली हिन्दी गद्य का खड़ीबोली में 'रानी केतकी की कहानी' लिखनेवाले इंशाल्लाख़ाँ का समय आता है। उन्होंने जिस बोली में अपनी कहानी लिखी वह हिन्दी थी, परन्तु वह ग्रामीण भाषा से परिष्कृत कर दी गयी थी, अतः उनकी भाषा नागरी हिन्दी का एक नमूना है। उसका उदाहरण यह है—

"एक दिन बैठे-बैठे ध्यान में चढ़ी कि कोई ऐसी कहानी कहिए कि जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले।'

अतः यह कहा जा सकता है कि 'रानी केतकी की कहानी' उन्नीसवीं शताब्दी की नागरी हिन्दी का शुद्ध रूप है, जिसका और अधिक परिमार्जन आगे चलकर इसी शताब्दी में भारतेन्दु-युग में हुआ।

लल्लूलालजी का समय सन् १७६३ ई. से सन् १८२५ ई. तक है। ये गुजराती ब्राह्मण थे और फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष डा० गिल-क्राइस्ट ने इन्हें कालेज में हिन्दुस्तानी सीखने के लिए नियुक्त किया। इन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पच्चीसी', 'शकुंतला नाटक', 'मधोनल' तथा 'प्रेमसागर, आदि ग्रंथ लिखे हैं। इनकी प्रेमसागर की भाषा को दिल्ली आगरा की खड़ी बोली कहते

हैं। लल्लूलालजी आगरा निवासी थे, इस कारण इनकी भाषा में ब्रजभाषा शब्दावली का मिश्रण है। इसे हम खड़ीबोली या नागरी हिन्दी का शुद्ध रूप नहीं कह सकते। इनकी 'प्रेमसागर' की भाषा का नमूना यहाँ पर दिया जाता है—

'इतनी कथा कह श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा—महाराज! ऐसे अनेक-अनेक प्रकार की बातें कर प्रभु रुक्मणीजी को समझाय शुदामा को मंदिर में लिवाय ले गये। आगे षटरस भोजन करवाय, पान खिलाय, हरि ने सुदामा को फेन-सी सेज पर ले जाय बैठाया। वह पथ का हारा थका तो था ही सेज पर जाय सुख पाय सो गया।'

लल्लूलालजी की भाषा में संस्कृत के शब्द अधिक आये और अरबी-फारसी के शब्द नहीं। ब्रजभाषा के रूप 'बुलाय', 'सुख पाय' आदि शब्दों में दिखाई देते हैं।

फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक थे सदल मिश्र। इनका समय सन् १७६८ ई० तक है। इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। सदल मिश्र की भाषा लल्लूलाल की भाषा से अधिक सहित्यिक है। यह अधिक मुहावरेदार भी है। और ब्रजभाषापन भी इसमें कम है, फिर भी सदल

मिश्र की भाषा भी पंडिताऊ भाषा है। इनकी शैली के दो रूप मिलते हैं। एक तो संस्कृत शब्दावली-प्रधान और दूसरा बोलचाल की शब्दावली प्रधान। दोनों ही प्रकार की शैलियों में सदल मिश्र की भाषा लल्लूलालजी की भाषा से अधिक प्रौढ़ एवं मरि-मर्जित है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

'जो नर चोरी आदि नाना भांति के कुकर्म में आप तो दिन रात लगे रहते हैं जिनपर भी औरों को दूखते हैं वो एक अक्षर भी जिससे पढ़ते हैं, उसे गुरु के बराबर नहीं मानते है सो तब तक महानरक को देखते हैं कि जब तक यह संसार बना रहता है।'

खड़ीबोली भाषा के प्रसंग में इस प्रकार ऊपर स्वान्तस्सुखाय मुंशी सदासुखलाल जैसे व्यक्तियों का गद्य लिखने का प्रयत्न है। दूसरा प्रयत्न शिक्षा संस्थाओं आदि के द्वारा हिन्दी गद्य के स्वरूप को प्रकट करने का और तीसरा रूप इस समय के हिन्दी गद्य का हमें ईसाइयों के धर्म-प्रचार आदि में देखने को मिलता है। सन् 1809 ई० में किये गये एक बाइबिल के हिन्दी अनुवाद की भाषा इस प्रकार है—"यीशु ने कहा—मेरा भोजन यह है कि अपने भेजनेवाले की इच्छा पर चलूँ और उसका काम पूरा

करूँ। क्या तुम नहीं कहते कि वे कटने के लिए थक चुके हैं। काटनेवाला मज़दूरी पता और अनन्त जीवन के लिए फल बटोरता है कि बोनेवाला और काटनेवाला दोनों मिलकर आनन्द करें।"

इस उदाहरण से पता चलता है कि खड़ीबोली का काफ़ी अच्छा रूप भी प्रचलित था। केवल वाक्य कुछ उलझे हुए जान पड़ते हैं, परन्तु भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। अनेक शुद्ध तत्सम शब्दों का भी इसमें प्रयोग है। आधुनिक युग से पूर्व गद्य के विविध रूप विकसित नहीं हो पाये थे। केवल कामचलाऊ रूप में गद्य था; वह प्रमुखतया व्रजभाषा और खड़ीबोली में ही मिलता था। खड़ीबोली-गद्य की उन्नति का श्रीगणेश वास्तव में भारतेन्दु-युग से ही हुआ।

गद्य-साहित्य के विविध रूप

भारतेन्दु-युग हिन्दी साहित्य विविध रूपों में विकसित हुआ। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस प्रकार नवीन महत्व से विविध विषयों के ग्रन्थ गद्य में लिखे जाने लगे। सन् 1835 ई० में आगरा और कलकत्ता में 'स्कूल बुक सोसाइटी' की स्थापना हुई। इसके द्वारा प्रचार के लिए काम में आनेवाली पाठ्य-पुस्तकें निकाली गयीं। ये पुस्तकें इतिहास, भोगोल, विज्ञान आदि से संबंध रखती थीं। इनके

लेखक विभिन्न विषयों के विद्वान हिन्दू ही थे। इनके इनके अतिरिक्त कथाएँ और मनोरंजक साहित्य भी संकलित किया गया। इन ग्रन्थों की भाषा शुद्ध नागरी हिन्दी (खड़ीबोली) है। केवल पंडिताऊपन का कहीं कहीं प्रभाव देखा जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से अन्तिम चरण तक हिन्दी गद्य के विकास के क्षेत्र में कार्य करनेवाले दो अन्य महापुरुष हुए। ये हैं—राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिह। दोनों हिन्दी प्रेमी थे और हिन्दी में अनेक ग्रंथों की रचना भी दोनों ने की। परन्तु शैली के सम्बन्ध मे दोनों के विचार भिन्न थे। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' काशी से 'बनारस अख़बार' निकालते थे। उस समय हिन्दी खड़ीबोली में जो पंडिताऊ या व्रजभाषापन था, उसके कारण कुछ लोग इसे गँवारू या मुश्किल ज़बान कहकर विरोध करते थे, इसलिए राजासाहब ने हिन्दी का वह रूप स्वीकार किया, जो अरबी-फारसी की शब्दावली से ओतप्रोत था। लिपि देवनागरी ही थी। यदि कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की भाषा उर्दू थी, पर उसे उन्होंने हिन्दी की एक शिष्ट शैली के रूप में स्वीकार किया। 'सितारे हिन्द' आम

-फ़हम ज़बान के पक्षपाती थे, क्लिष्ट और पांडित्यपूर्ण दुरूह भाषा के नहीं ! स्वयं 'सितारे हिन्द' की भाषा में दो रूप मिलते हैं—एक में फ़ारसी-अरबी की शब्दावली अधिक है और दूसरी में कम। 'सितारे हिन्द' की प्रथम प्रकार की भाषा का नमूना है—

" यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं की मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है।"

दूसरी शैली का नमूना यह है—

"निदान यह मैदान नदियों से सिंचा हुआ गंगा के दोनों तरफ़ हिमालय और सिन्ध के बीच हरिद्वार तक चला गया है और गंगा-यमुना के बीच जो देश पड़ा है उसे अन्तरवेद और पुराना दुआबा भी कहते हैं और यही दो-चार सूबे अर्थात् दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद यथार्थ मध्यदेश अर्थात् असली हिन्दुस्तान है।" (भूगोल हस्तामलक)

इस प्रकार तथ्य यही जान पड़ता है कि 'सितारे हिन्द' ने विषयानुकूल उर्दू या हिन्दी शैली का प्रयोग किया है। कोर्ट की भाषा होने के कारण 'सितारे-हिन्द' ईसका पक्ष करते थे, परन्तु अपने ग्रन्थों, जैसें 'योगवासिष्ठ' या 'उपनिषद्सार' में उन्होंने शुद्ध नागरी

हिन्दी का प्रयोग किया है। जैसे—

"पुरुषों के यौवनरूपी शरद ऋतु में शोभा के उज्वल गुण सुगन्धादिक सो वृद्धारूपी हेमन्त में नष्ट होते हैं। चित्त की स्वधीनता और आस्था भी अति दूर चली जाती है जैसे हिमऋतु में कमलों की।"

यहाँ पर एक बात देखते हैं, जो कि राजा लक्ष्मणसिंह और 'सितारे हिन्द' दोनों हों की रचनाओं में मिलती है, वह है साहित्यकता। इस युग में आकर हिन्दी गद्य केवल भाव-प्रकाशन का एक टूटा-फूटा माध्यम ही नहीं था, जैसा कि हम आठारहवीं शताब्दी या उन्नीसवीं शताब्दी के प्राथमिक चरण में देखते हैं, वरन् उसमें शैली का भी विकास होने लगा था। इस शैली का अति सुन्दर रूप हमें भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की गद्य-रचनाओं में देखने को मिलता है। राजा लक्ष्मण सिह कुछ संस्कृत-गर्भित भाषा के पंक्षपाती थे, जो मत 'सितारे-हिन्द' के विचारों के विपरीत पड़ता था। हिन्दी और उर्दू को वे दो अलग-अलग भीली कहते थे और हिन्दी के प्रचार के पक्ष में थे। राजा साहब 'प्रजाहितैषी' के संपादक थे और उन्होंने कालिदास के 'शाकुंतल' 'मेघदूत' और 'रघुवंश' का हिन्दी अनुवाद किया। 'शाकुंतल' के अनुवाद में इनके शैली का रूप देखिये—

"शकुन्तला—उसी दिन मेरा पाला हुआ दीर्घापांग नामक मृगछौना आ गया, तुमने प्यार से कहा, आ छौने, पहले तू ही पी ले। उसने तुम्हें विदेशी जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया। फिर उसी पत्ते से मैंने पिलाया तो पी लिया। तब तुम ने हँस कर कहा था कि सब कोई अपने ही सहवासी को पत्याता है, तुम दोनों एक ही वन के वासी हो।"

वास्तव में भाषा की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं। वह भेद-संबंधी विवाद काफ़ी दिनों चला, परन्तु यह तथ्य भाषाविदों ने स्वीकार कर लिया है और उसे सिद्ध भी कर दिया है कि ये दोनों एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कुछ अन्य धार्मिक प्रचारकों ने हिन्दी भाषा और विशेष-रूप से उसके गद्य के विकास में कार्य किया। ब्राह्म-समाजी नवीनचन्द राय ने पंजाब में, राजा राममोहन राय ने बंगाल में तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती (1825-83) ने समस्त उत्तरी भारत में धार्मिक उपदेशों और सामाजिक सुधार की बातों को समझाने के लिए हिन्दी का खूब प्रचार किया। उस प्रकार भारतेन्दु के समय जो गद्य की विशिष्ट शैली के दर्शन हैं उसका कारण ये समस्त पूर्ववर्ती कार्य हैं।

भारतेन्दु-युग में तथा उसके आगे हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं का अच्छा विकास हुआ। ये

विधाएँ हैं— (1) निबन्ध, (2) नाटक, (3) कहानी, (4) उपन्यास, (5) शब्दचित्र, (6) रिबोर्ताज आदि ।

हिन्दी निबंध और गद्य-शैली का विकास

भारतेन्दु-युग

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के पूर्व यद्यपि यत्र-तत्र बिखरे रूप में हिन्दी गद्य के दर्शन होते हैं, परन्तु हिन्दी गद्य का प्रारंभ भारतेन्दु-युग से ही माना जाना चाहिए। इसके पहले न तो गद्य का कोई सुन्दर सुनिश्चित रूप ही मिलता है और न महत्व-पूर्ण रचनाओं की परम्परा ही। साथ ही, इसके पूर्व गद्य की आवश्यकता और महत्ता भी पूर्ण सिद्ध नहीं हो पायी थी। भारतेन्दु-युग में अनेक कारणों से हिन्दी गद्य अपने विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ। इनमें से पहला कारण पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ और प्रवर्तन है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार से विषयों का प्रतिपादन गद्य के माध्यम से हुआ। गद्य के प्रादुर्भाव का कारण पत्र-पत्रिकाएं होते हुए भी उसके उत्कर्ष में सहायक प्रमुख कारण विदेशी, विशेषरूप से अंग्रेज़ी गद्य-साहित्य का सम्पर्क रहा। अंग्रेजी में नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का सुन्दर साहित्य गद्य में प्राप्त था और बराबर संवर्द्धित हो रहा था। अतएव उसके सम्पर्क में आने से हिन्दी गद्य-लेखकों में भी एक नवीन प्रोत्साहन का उदय हुआ। गद्य के प्रति लेखक का यह उत्साह

और पाठक की यह अभिरुचि इसके पहले देखने को नहीं मिलती; इसलिए हिन्दी गद्य का प्रारंभ वास्तव में भारतेन्दु-युग में ही मानना चाहिए।

भारतेन्दु-युगीन गद्य हमें विविध रूपों में देखने को मिलता है। उसका रूप हमें नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, जीवन-चरित्र, यात्रा, समसामयिक समस्याओं पर लिखे गये लेखों के रूप में मिलता है। नाटकों में गद्य, काव्य के सबसे अधिक समीप रहता है। और यही दशा हमें भारतेन्दु-युगीन नाटकों में प्राप्त गद्य में भी देखने को मिलती है। भारतेन्दु के पहले भी राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवादित नाटकों में गद्य की कवित्वपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि गद्य की दृष्टि से वर्तमान और भारतेन्दु-युग के नाटकों में बड़ा अन्तर है और सामान्य रूप से भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली की प्रमुख छाप नाटकों में ही विद्यमान मिलती है। कथा-साहित्य के रूप में भारतेन्दु-युगीन गद्य विशेष महत्व नहीं रखता। क्योंकि प्रथम तो इनके समय में कथा-साहित्य का अधिक विकास ही नहीं हुआ और द्वितीय, इनके पहले भी 'रानी केतकी की कहानी', 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि अपनी-अपनी विशिष्ट शैलियों में गद्य का रूप सामने रख रहे थे और प्रायः

लोगों के सामने समस्या यह थी कि इन विभिन्न शैलियों में हिन्दी गद्य के विकास के लिए किस शैली को अपनाया जाए।

यात्रा, जीवन-चरित्र, आलोचना, इतिहास आदि में प्राप्त गद्य में शैली की विशेषता उतनी देखने को नहीं मिलती जितनी वर्ण्य विषय की। अतः गद्य के विकास के क्षेत्र में एसी रचनाओं का बहुत महत्वपूर्ण योग नहीं रहा। इन विषयों को लेकर लिखनेवाले प्रायः किसी पत्र-पत्रिका के संपादक ही रहे, जिनका कि इनके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में अधिक महत्वपूर्ण स्थान बन गया था।

वास्तव में भारतेन्दु-युगीन गद्य अपने अत्यन्त मनोहारी रूप में निबन्धों में देखने को मिलता है। जहां तक निबन्धों की रोचकता और काव्य-गुण-सम्पन्नता का प्रश्न है, वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युगीन निबन्ध-साहित्य अति उत्तम है। कहा गया है कि गद्य, कवियों की कसौटी है; यह सत्य है, और इसी प्रकार यह भी सत्य है कि निबंध गद्य-लेखकों की कसौटी है। एक अच्छे निबंध लेखक की गद्य-शैली में कुछ विलक्षण और विशिष्ट गुण रहते हैं। भारतेन्दु-युग के निबन्ध लेखकों में ऐसे गुण स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं।

भारतेन्दु-युग के प्रमुख निबन्ध-लेखक जिनको कि हम इस युग के प्रमुख गद्यकार भी कह सकते हैं, भारतेन्दु के अतिरिक्त, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह और बालमुकुन्द गुप्त हैं। इनकी ही रचनाओं में उस युग के गद्य का सजीव रूप निखरा है। स्वयं भारतेन्दु ने यद्यपि निबन्धकार के रूप में वैसा कार्य नहीं किया है, फिर भी उन्होंने गद्य का एक रूप स्थिर किया। पद्य के लिए व्रजभाषा को स्वीकार करते हुए भी गद्य के लिए उन्होंने खड़ी बोली हिंदी को ही उपयुक्त समझा। भारतेन्दु के पहले हिन्दी गद्य की तीनों शैलियाँ प्रमुखतया प्रचलित दिखाई देती हैं। पहली व्रजभाषापन या पंडिताऊपन लिये हुए, जिसका प्रयोग 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' में मिलता है, दूसरी संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली, जिसका प्रयोग राजा लक्ष्मणसिंह ने किया है और तीसरी अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त खड़ीबोली की शैली, जिसका प्रयोग राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द, ने किया। भारतेन्दु ने एक बिलकुल ही नवीन गद्य-शैली की नींव डाली। उन्होंने एक परिमार्जित सर्वग्राह्य और चलती हुई भाषा को गद्य के लिए अपनाया, जिसे लेकर उनके समकालीन गद्य-लेखकों ने उत्कृष्ट गद्य की सृष्टि की। स्वयं भारतेन्दु ने

इतिहास, भूगोल, शास्त्र, विज्ञान, वेदान्त आदि विषयों पर काफी लिखा है; परन्तु सुन्दर निबन्ध-रचना का परिष्कृत और स्वच्छ रूप बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र के निबन्धों में देखने को मिलता है। भट्टजी की भाषा का शरीर शिष्ट और प्रचलित भाषा का रूप था, परन्तु उन्होंने अपनी भाषा से विदेशी भाषा के शब्दों का बहिष्कार नहीं किया; वरन् अरबी-फारसी और अंग्रेज़ी के प्रचलित शब्दों का तो प्रायः वे प्रयोग कर बैठते थे। उनकी भाषा उनकी निजी, किन्तु नागरिक हिन्दी थी। भट्टजी की भाषा में मुहावरों का बहुत सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है। कहीं-कहीं तो उनकी लड़ी-सी गुंथी दिखाई देती है। भट्टजी के गद्य में उनका व्यक्तित्व झाँकता हुआ मिलता है। भारतेन्दु-युगीन गद्य के निर्माण में उनका बहुत बड़ा हाथ है। प्रायः जितने भी प्रकार के निबन्ध की कोटियाँ हो सकती हैं, वे सभी भट्टजी की रचनाओं में मिल जाती हैं। विचारात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक सभी प्रकार के निबन्ध अपने भेद-प्रभेद के साथ उनकी लेखनी से प्रवाहित हुए हैं।

गद्य के क्षेत्र में भट्टजी के पूरक उनके सम-सामयिक सहयोगी पं० प्रतापनारायण मिश्र हैं,

जिन्होंने साधारण से साधारण विषय पर बड़े ही सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। उनके गद्य में एक विचित्र प्रकार का विनोद और चहलबाज़ी देखने को मिलती है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, वहाँ उनकी अपेक्षा भट्टजी की भाषा अधिक नागरिक है, क्योंकि उनकी रचनाओं में बैसवाड़ी अवधी के शब्दों और गाँव की कहावतों का भी खूब प्रयोग हुआ है। उनका हँस-मुख और विनोदी स्वभाव उनकी रचनाओं में स्पष्ट झाँकता हुआ दिखाई देता है। उनकी भाषा यद्यपि सदैव व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध नहीं है, फिर भी उसमें एक विलक्षण रोचकता देखने को मिलती है; साथ ही साथ उनकी तर्क-पद्धति भी बड़ी ही विदग्ध और प्रभावशाली है। ये सभी बातें मिल कर उनके गद्य को रोचक और उनक वाक्यों को स्परणीय बना देती हैं। उनके सामर्थ्य और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग उनके एक अवतरण से भली-भाँति मिल जाएगा। 'बात' नामक निबंध में वे लिखते हैं :—

"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त, बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, ब.त खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे भी

सभी काम बात पर निर्भर हैं। बात ही हाँथी पाइये। बात ही हाँथी पाँव। बात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्टजी और मिश्रजी की निबन्ध-शैली में एकता है। इनका गद्य मनोरंजक और रोचक विशेष है, परन्तु 'प्रेमधन' का गद्य विषय-विवेचन की दृष्टि से अधिक परिपक्व है। इनके गद्य में वाक्यदीर्घता और अलंकारिकता के दर्शन होते हैं। साधारण विषय को अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा कर लिखना ही इनका स्वभाव है। प्रायः 'प्रेमघन' के वाक्यों में पद्य की-सी एक प्रकार की गति पायी जाती है, जो गद्य में पद्य की प्रवृत्ति की सूचक है और उसे कुछ अस्वाभाविक-सी बना देती है उदाहरणार्थ इनका एक वाक्य देखिये :—

"दिव्य देवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े-बड़े उद्योग और मेल से दु:ख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ थकेल फिर गद्दी पर बैठ गयीं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेल-पेल और कभी उसपर सुख की कलोल है!"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रेमघन' का गद्य कृत्रिमता को अपनाये है। भट्टजी और मिश्रजी की

शैली रोचक और चलताऊ अवश्य है, पर उसमें कृत्रिमता नहीं।

इस प्रसंग मे प्रसिद्ध नाटककार और उपन्यासकार श्रीनिवासदास की गद्य-शैली का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यद्यपि उनके नाटकों और उपन्यासों की शैलियों में अन्तर है, परन्तु वह अन्तर विषय-परिवर्तन का अंतर है, मूलभूत अन्तर नहीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में फ़ारसी के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है; फिर भी हम कह सकते हैं कि इनकी भाषा संयत, सुबोध और परिपक्व है। कुछ प्रांतीय उच्चारण का प्रभाव इनके वर्ण-विन्यास पर अवश्य देखने को मिलता है। इनकी भाषा में न तो अधिक विनोद्पूर्णता ही है और न अधिक कृत्रिम आलंकारिकता ही।

भारतेन्दु-युगीन गद्य की साहित्यिक शैली का रूप हमें ठाकुर जगमोहन सिंह की रचनाओं में देखने को मिलता है। संस्कृत और अंग्रेजी की विद्वत्ता की छाप इनकी रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। इनकी भाषा प्रायः गद्य-काव्यमयी। फिर उसमें 'प्रेमघन' की-सी अस्वाभाविक उलझन और कृत्रिम आलंकारिता नहीं। इनमें एक निजी छाप की विलक्षणता है, जो इनके व्यक्तित्व को प्रतिबिंबत करती है। इनकी शैली में माधुर्य और क्रांति का समावेश है। प्रायः इनके ाकृतिक दृश्यों के वर्णन बड़े ही मनोहारी हैं।

उदाहरणार्थ एक नदी-तट का वर्णन देखिए :—

"जहाँ की निर्झरिणी जिनके तीर नीर से भरे, मदकल-कूजित विहंगों से शोभित है, जिसके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिसके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित हैं, शब्दायमान होकर झरती है, जहाँ राल्ल के वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है, मंजु मुँजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य-किरणों को भी नहीं निकलने देते, इसी नदी के तट पर शोभित हैं।"

इनके वर्णनों में संस्कृत के बाण आदि कवियों की वर्णनशैली का प्रभाव-सा दिखाई देता है। फिर भी यह शैली अपना निजी महत्व रखती है।

अन्त में भारतेन्दु-युग के एक अन्य किन्तु अन्यतम प्रमुख गद्यकार का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसने हिन्दी गद्य निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। वे हैं प्रसिद्ध 'शिवशंभु का चिट्ठा' लिखने वाले बालमुकुन्द गुप्त। गुप्तजी की शैली व्यावहारिक, चलती हुई, रोचक तथा भाषा टकसाली और मुहावरेदार थीं। मुहावरों के सुन्दर, उपयुक्त और स्वाभाविक प्रयोग हमें बालमुकुन्द गुप्तजी की गद्य-रचना में मिलते हैं। इनके छोटे-छोटे सरल, संयत

वाक्यों में भावों का नैसर्गिक प्रकाशन होता है। व्याकरण की दृष्टि से भी इनकी भाषा शुद्ध है। इनकी भाव-व्यजना में दृढ़ता और शक्ति तथा शैली में विनोद और ओज है। वास्त में इनकी भाषा प्रौढ़ता की द्योतक है।

इस प्रकार यहाँ उल्लखित गद्यकारों ने भारतेन्दु युगीन गद्य के निर्माण में सहयोग देकर उस प्रारम्भ की अवस्था में भी उसे रोचकता और प्रौढ़ता प्रदान की। विषय की उपयोगिता और गंभीरता न होने पर भो समस्त रचना को पढ़ लेने का आकर्षण और भाव उप्पन्न करनेवाले भारतेन्दु-युग के गद्य की विशेषताओं का धीरे-धीरे आगे विकसित गद्य में ह्रास-सा होता गया। जैसे ही जैसे विषय की प्रौढ़ता और गंभीरता हमारे गद्य-साहित्य में आती गयी, वैसे ही वैसे शैली को रोचकता और व्यक्तित्व की सक्रिय छाप का गद्य में अभाव-सा होता गया और यह हम आज तक के गद्य को देखकर भी कह सकते हैं। शैली की रोच-कता की दृष्टि से गद्य का विकास भारतेन्दु-युग के उपरान्त नहीं हो पाया। अतएव इस युग के गद्य का अपना निजी महत्व है।

द्विवेदी-युग

द्विवेदी-युग में अर्थात् सन् 1900 ई० के बाद निबन्ध-साहित्य का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ। परन्तु भारतेन्दु-युगीन निबंधों की सभी विशेषताओं

का विकास नही हो पाया। भारतेन्दु-युगीन निबंधकारों में निबंध की असली आत्मा विद्यमान मिलती है। अधिकांश निबंध आत्मानुभव की अभिव्यक्ति के रूप में हैं। उसमें वस्तु या वर्ण्य विषय के प्रति लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण अभिव्यक्ति हुआ। इस विशेषता के कारण हम देखते हैं कि निबंधकार का व्यक्तित्व निबंधों के भीतर झांकता हुआ दिखाई देता है। इस युग के निबंधों में एक विशेष रोचकता है। लेखकों में जो ज्ञान हमें प्रदान किया है, वह सदैव तटस्थ और सूचनात्मक ज्ञान नहीं है, वरन् उसे अपने रंग में डुबो-कर अपने ऊपर पड़े प्रभावों का विश्लेषण करके प्रकट किया है। यह विशेषता द्विवेदी-युग में सर्वत्र नहीं मिलती है। इस युग में निबन्धकारों की एक विशाल संख्या है तथा इनके निबंधों में निबंध के सभी रूपों का विकास भी हुआ है। पर अधिकांश निबंध सूचनात्मक और तटस्थ ज्ञान देनेवाली विषेषता से युक्त हो गये हैं। भारतेन्दु के निबंधों की जो अधिकाँश विशेषता है, वह इस युग के नवंधों से न्यूनांश हो गयी है। फिर भी इस युग में निबन्ध-साहित्य का महत्वपूर्ण विकास हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

द्विवेदी-युग में जिन विषयों पर अधिक लिखा गया, वे हैं— भाषा और साहित्य, विज्ञान और आविष्कार, इतिहास और पुरातत्त्व, भूगोल और

यात्रा-भ्रमण, जीवन-चरित्र, धर्म और अध्यात्म, उपयोगी कलाएँ आदि इस युग के निबन्ध-साहित्य के भीतर हम विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और कथात्मक सभी प्रकार के निबन्ध पाते हैं। स्वयं द्विवेदी जी इस बात का ध्यान रखते थे कि उनकी 'सरस्वती' पत्रिका में सभी प्रकार के विविध विषयों पर लेख निकल सके।

द्विवेदी-युगीन निबन्धों की पहली विशेषता तो यह है कि इस युग में जीवन के विविध पक्षों को लेकर लिखा गया विषय-विस्तार खूब मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस युग के निबन्ध सूचनात्मक और ज्ञानवर्धक अधिक हैं, भारतेन्दु-युगीन निबन्धों के समान भावात्मक और कल्पनात्मक ही नहीं, बल्कि विचारात्मक निबन्ध भी इस युग में लिखे गये, परन्तु वर्तमान युग के समान गंभीर आलोचना का स्वरूप कम है। शुक्लाजी के निबन्धों से ही उनका प्रारम्भ समझना चाहिए।

तीसरी विशेषता यह है कि युग के लेखकों का उद्देश्य मनोरंजन और चमत्कार प्रदर्शन ही नहीं, वरन् ज्ञानवर्धन और रुचिपरिष्कार भी है। चौथी विशेषता यह है कि इस युग के निबन्ध भाषा की दृष्टि से अधिक शुद्ध और परिष्कृत हैं।

द्विवेदी-युगीन निबन्धों में उपयोगितावाद और

उपदेशवाद की एकतानता भी बहुत अधिक देखने को मिलती है।

आधुनिक-युग

वर्तमान निबन्ध-साहित्य विचार प्रधान है। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के निबन्धों में एक मस्ती और भावात्मक विशेषता पायी जाती है, तथा द्विवेदी युगीन निबन्धों में एक सूचनात्मकता तथा उपदेशात्मकता का पुट है, वर्तमान निबन्ध आलोचनात्मक हैं। प्रमुखतया साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समालोचना इन निबन्धों में देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य रूपों के निबन्ध नहीं मिलते या ऐसे निबन्धों का लिखना बन्द हो गया है, परन्तु अधिकतर जिस प्रकार के निबन्ध निकलते हैं, वे विचारात्मक और समालोचनात्मक होते हैं।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

डा. नगेन्द्र

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है; उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम। इनके अतिरिक्त और भी कतिपय भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक और वैज्ञानिक महत्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, सिन्धी, डोगरी, कोंकणी, तुळु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषत: पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता वैविध्य, गुण और परिणाम, सभी दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए, तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक-संस्कृत, संस्कृत, पाली, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो, उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है, ज्ञान का अपार भंडार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्मा की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर

वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश–सीमाए कितनी मिली हैं, किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है? इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जनजीवन परस्पर ओतप्रोत है, किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है; सभी द्राविड परिवार की विभूतियाँ हैं, परन्तु क्या कन्नड और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है? यही बात बंगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है—बंगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उडिया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संघ-साहित्य, तेलुगु के द्व्यर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य, मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालम शैली, मराठी के पोवाड, गुजराती के आख्यान और फागु, बंगला का मंगल-काव्य, असमिया के बडगीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी का रीतिकाव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्वल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते

हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार तत्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उर्दू को छोड़, भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्राय: समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि है नन्नय, जिसका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती; कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है कविराजमार्ग, जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट वंश के नरेश नृपतुंग (814-877 ई.) और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है रामचरितम, जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानत: तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव काल लगभग एक ही है; गुजराती का आदि-ग्रंथ सन् 1185 ई. में रचित शालिभद्र भरतेश्वर का बाहुबलिराय है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है—बंगला के चर्या-गीतों की रचना शायद 10 वीं और 12 वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी; असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्राय: तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं

हेम सरस्वती की रचनाएँ प्रह्लादचरित तथा हरगौरी संवाद। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं—उधर चौदहवीं शती में तो उड़िया के व्यास सारलदास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है—(यद्यपि तमिल भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरंभ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है, पूर्व मध्य काल की समाप्ति मुगल वैभव के अन्त, अर्थात् सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्य काल की अंग्रेज़ी सत्ता की स्थापना के साथ होती है—और तभी से आधुनिक युग का आरंभ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है—सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है—और वह है भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है,

मुगल शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर, दक्षिण और पूर्व पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा—मुग़लों की सत्ता खंडित हो जाने के बाद यह संपर्क टूटा नहीं। मुग़ल शासन के पहले भी राज्य विस्तार के प्रयत्न होते रहते थे—राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ। किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्राय: एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेज़ों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारत-व्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उनकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ, जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्राय: सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के बिचार और भाव-पक्ष की अपेक्षा नहीं थी और इनमें अनेक साधु, आत्माभिव्यक्ति

एवम् सिद्धांत-प्रतिपादन, दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन संप्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-संप्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफ़ी मत का प्रचार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-संप्रदाय वेदान्त-दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रसार करते थे। सूफी धर्म में निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफ़ी संतों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बहमनी, बीजापुर और गोलकोंडा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ, जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम-संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्व, जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नयी दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रासादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवम् आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही

इसमें शेष रह गयी। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ, जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाये—और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बना कर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है! विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ संपर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण-युग का उदय, राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नयी रोमानी सौंदर्य दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुंठाओं और स्वप्नों को शब्दरूप देने के नये प्रयोग और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है, जो सभी भाषाओं में समानरूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए—भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक ऐक्य समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास, भवभूति और बाण आदि की अमर कृतियाँ, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य, भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है शास्त्र के अंतर्गत, उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्य-शास्त्र के अनेक अमर ग्रंथ नाटच शास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण, रस-गंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः आ गयी है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषय-वस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है। किन्तु काव्य-शैलियों और काव्य-रूपों की समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य शैलियाँ—महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा शैली, रास, पद-शैली, आदि प्रायः समानरूप में मिलती हैं। अनेक वर्णित छंदों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द—दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय

वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छंदों का, जैसा प्रगीत-काव्य और उसके अनेक भेदों, सम्बोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का, और मुक्त छन्द, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्राविड—की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पाली प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। (भारतीय भाषाएँ अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरन्तर संस्कृत के भण्डार का उपयोग करती रही हैं; और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेज़ी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेज़ी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है, पिछले 50 वर्षों से भारत की सभी भाषाएँ उसकी नवीन भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार वक्रताओं का सचेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेज़ी का प्रभाव और भी अधिक है—हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंग्रेज़ी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम-भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है, जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित रहना नहीं चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुर भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बंगला तक ही सीमित कर ले, तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुर भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी साहित्य कें इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ संयोगिक-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीति-साहित्य की परंवरा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी काव्य में

घटनेवाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि मालव ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि कृष्ण-गाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बडगीतों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान काव्य का अध्ययन किये बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृद्गत किये बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगला और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था—वहाँ के कृष्ण काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतर्साहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी—अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जाएगा और इधर भारतीय चिन्ताओं एवं रागात्मक चेतना की अखंड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी।

सब से पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत तक ही सीमित है--प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छामात्र होकर न रह जाए, पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषा-मार्ग तो ऐसे हैं, जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है; उनमें तो रूपान्तर—यहाँ तक कि लिप्यन्तर भी आवश्यक नहीं है। जैसे बंगला, असमिया, और उड़िया में या हिन्दी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक, इतिहास, परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अंतर्साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गयी है और कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप में शुभ लक्षण है।

भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवम् स्थायी आधार है--साहित्य। जिस प्रकार भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक सम्मार्जित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है।

कला का विवेचन

बाबू श्यामसुन्दरदास, बी. ए.

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है, उसीकी संज्ञा 'कला' है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुल्हे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला, संगीत-कला और काव्य कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली, अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुन्दर भी हो। परन्तु मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं, जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं, अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होने में सन्देह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने-जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। [मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता की सीढी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही मनुष्य का सौन्दर्य-ज्ञान भी बढंता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किये उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता, वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी-अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुन्दरता का आदर्श स्थिर करते हैं; क्योंकि सबका मन एक-सा सस्कृत नहीं होता।]

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मन्दिर निर्माण), मूर्ति (तक्ष-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करने वाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा। कला में किसी मूर्त-आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और माध्यम, स्थिर की गयी हैं।

जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा, उतना ही उच्च कोटि की वह समझी जाएगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं। क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार पूर्ण अभाव रहता है और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सब से नीचा स्थान देते हैं; क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिये तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान मूर्तिकला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है, परन्तु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनन्तर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माणकर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परन्तु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिए लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम-मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्र पट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब

अंकित कर देता है, जो असली वस्तु के रूप-रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिये। संगीत में नाद का परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न-भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम, अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं :—

1. सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से

लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता।

2. जिन उपकरणों द्‌वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं।

3. ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के माध्यम का काम देते हैं, जिनके द्‌वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है, जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता द्‌वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है, जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें :—

(1) उनका मूर्त आधार, (2) वह साधन, जिसके द्‌वारा यह आधार गोचर होता है और (3) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है, वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है, अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनायी जाती हैं।

ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है, जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आंखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं; एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती, दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आधार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं, जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी वे जो कुछ प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिच्छाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन, सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्मस्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्दष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हींको प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनन्दित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों, अथवा दर्शक उनको समझने में समर्थ हों या न हों।

मूर्ति-कला में मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं. जिन्हें मूर्तिकार काट-छांटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्निहित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रदर्शित करना है।

चित्र-कला का आधार कपड़े क़ागज़, लकड़ी आदि का चित्रपट है, जिसका चित्रकार अपने ब्रश या क़लम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों का जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसीसे उसे अपनी कला की खूबी दिखलाने के लिए अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रश या क़लम से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि

दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है, जिसे देख कर दर्शक को चित्रपट वस्तु असली वस्तु-सी लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अङ्गों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किन्तु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिए, अपना ब्रश चलाना और परोक्षरूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र-सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिक का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जाएगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त आधर की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत का आधार नाद है, जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। संगीत के सात स्वर इन सिद्धांतों के आधार हैं। वे ही संगीत कला के प्राणरूप या मूलकारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत कला का आंधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। सगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है, और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिये, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसा ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न-भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया

जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचण्ड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात संगीत कला की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है कि जितनी काव्य-कला को छोड़कर, और कोई कला नहीं हो पायी। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि संगीत कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उनम अन्योन्याश्रय है, एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिए किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के, जो काल्पनिक रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर

अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं, और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना का वाहक या सहायक भाव है, जिसका कवि उपयोग करता है।

उपन्यास

श्री प्रेमचन्द

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होतीं है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं हैं, जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं—पर इतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र सम्वन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो? लेकिन

इस संतान प्रेम की मात्राएँ हैं---उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता; उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश मात्र भी विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो, कुछ धन संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े—वह संतान प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान प्रेम वह है, जहाँ संतान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता संतान का कुचरित्र देख कर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे, तो इसी संतान प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा। उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देख कर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान प्रेम भी देखने में आता है, जहाँ शराबी-जुआरी पिता पुत्र प्रेम के वशीभत होकर ये सारी बरी आदतें छोड देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमें अपनी तरफ़ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गये हैं। एक आदर्श-वादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है। या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा; उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या ख़ूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है; बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्वल से उज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी

बना देता है। मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है; क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएँ, जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़ कर पहुँचना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को जैसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबिक़ा है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढे ही क्यों ?

अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ––इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है जिनके

हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते है। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें साँसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कांइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हो—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वे ही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो, महान से महान पुरुषों में भी कुछ न

कुछ कमजोरियाँ होती हैं, चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमज़ोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती; बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्‌भावों का संचार कराता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ज़रूरत है कि उसके चरित्र विध्यात्मक हों। जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाकों के पंजे में न फंसें, बल्कि उनका दमन करें; जो किसी विजयी सेनापति की भांति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाए। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य

चिरायु हो सकता है, जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवत्तियाँ हैं; इन्हींकी छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है—इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े—वह उनसे आन्दोलित हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाए कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का "ला मिज़रेबुल", टाल्स्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ, विचार प्रधान होते हुए उच्चकोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी

शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करें, जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्षरूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जाएगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफ़िरों की ज़बान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गयी। 'साइलस मार्नर' भी अंग्रेज़ी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान

लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गयी थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हाथार्न की बहुत ही सुंदर मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रंगभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था। एक ज़रा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उसपर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम. एंड्रूज़ ह्मि' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनायी थी। वही कथा उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी, जिसकी नायिका रूपवती

न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर।'

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। 'हाल केन' का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाईबिल से प्लाट मिलते हैं। 'मेटरलिंक' बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का षेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोमाबोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। षेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने षेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग, 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरूबा' फ़ारसी का एक बृहत पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फ़ैज़ी कहे जाते हैं, हालांकि हमें यह मानने में सन्देह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम 20,000 पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व. बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'कन्द्रकान्ता-संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरूबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार के साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं, जिनपर हजारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और शायद

हज़ारों वर्षों तक लिखते जाएँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गयी हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा' जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हज़ार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गयी है, यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता, जो पुरानें कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुन्तला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाए, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की ज़रूरत नहीं।

रचना शक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती; कलम उठायी और लिखने लगे, लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है, मानों वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किसी प्रेरणा का सबसे

अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से—किसी की नये सुरम्य स्थान की सैर से, इस विषय में पथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नयी नयी कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जाएगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुज़र जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक काग़ज़ के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार को यह टुकड़ा देकर उस नाम के संबंध में ताबड़-तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहते हैं? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिये तो उन्हें अयोग्य समझ कर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है; पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी, पर इसकी ज़रूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नयी चीज़ कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है, जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीज़ों को वे अलग अलग खानों में सग्रहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन आरंभकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिये, एक उपन्यासकार के नोटबुक का नमूना :—

'अगस्त 21, 12 बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सफ़ेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूंछें ऐंठी हुई।'

'सितम्बर 1, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिंब काला, हरा, चमकीला; लहरें फ़ेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उठती हुई।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा, 'चारों तरफ़।' अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखें तो उसे हवा में से भी कहानियाँ

मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हज़ारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनायी जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छांट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गयी कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जाएँ तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास-कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आल पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए, जो उसे नित्य ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है; लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े, कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शरारी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें, पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी देखिए—

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पन्दन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज़ उपन्यासकार को जानता हूँ, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला? (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया, जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इंच से एक योजन की ख़बर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्व की वस्तु है।

मिस्टर जी. के. चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त में मुख्य रहस्य खुल जाए। लेकिन हर एक भाग में कुछ न कुछ रहस्योदघाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाए। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमाश्यक है कि कहानी के अन्त में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाए। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा है, जब कि चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूल कर भीं सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता, जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक कीं कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है, जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी सामग्री हो, उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है, तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है, तो कहानी में मजा नहीं आता।

किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरन्त देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की संभावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में आवश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें 'राम' 'श्याम' कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है?

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

राम—कहो, क्या रंग-ढंग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था; हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो, संगीतालय की तरफ़?

श्याम—हाँ, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो यह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।

घर और बाहर

श्री महादेवी वर्मा

युगों से नारी का कार्यक्षेत्र घर में ही सीमित रहा। उसके कर्तव्य के निर्धारित करने में उसकी स्वभावजात कोमलता, मातृत्व सन्तान-पालन आदि पर तो ध्यान रखा ही गया, साथ ही बाहर के कठोर संघर्षमय वातावरण और परिस्थितियों ने भी समाज को ऐसा ही करने पर बाध्य किया। यदि विचार कर देखा जाए तो न उस विस्मृत युग में, जब जाति नवीन भूमि में अपनी नवीन स्थिति को सुदृढ़ बना रही थी, न उस कोलाहलमय काल में, जब उसे अपने देश या सम्मान की रक्षा के लिए तलवार के घाट उतरना या उतारना पड़ता था, और न उस समय, जब हताश जाति विलास में अपने दुःख डुबा रही थी, स्त्री के जीवन के सम्मुख ऐसा विविध-वर्णी क्षितिज रहा, जैसा आज है या जैसा भविष्य में होने की संभावना है। तब उसके सामने एक ही निश्चित लक्ष्य था, जिसकी पूर्ति उसे और उस समय के समाज को पूर्ण आत्मतोष दे सकती थी। चाहे द्रौपदी के समान पाँच पति स्वीकार करना हो, चाहे सीता के समान मन, वचन, कर्म और शरीर से एक की ही उपासना हो, चाहे राजपूत-रमणी का जलती चिता में जौहरव्रत हो और चाहे रीति-युग की सौन्दर्य-मदिरा बनकर जीवित रहना हो; परन्तु एक समय में एक ही लक्ष्य, एक ही केन्द्र-बिंदु ऐसा रहा, जिसकी ओर स्त्री को जीवन की सारी शक्तियों के साथ प्रभावित

होना पड़ा। उस लक्ष्य तक पहुँच जाने में उसके जीवन की चरम सफलता थी; उस तक पहुँचने के प्रयत्न में मिट जाना उसके लिए स्तुत्य, परन्तु उस मार्ग से लौट आना या विपरीत दिशा की ओर जाने की इच्छा भी उसके लिए कलंक का कारण थी! आज उसका न पहले जैसी कठोर रेखाओं में बंधा एक रूप है और न एक कर्तव्य; अतः वह अपना लक्ष्य स्थिर करने के लिए अपेक्षाकृत स्वतन्त्र कही जा सकती है।

आज स्त्री का सहयोगी पुरुष न आदिम युग का अहेरी है, जो उसके लाये हुए पशु-पक्षियों को खाद्य रूप में परिवर्तित कर देने में ही उसके कर्तव्य की इति हो जाए; न वह वेद-काल का गृहस्थ है, जो उसके साथ यज्ञ में भाग लेना ही उसे सहधर्म-चारिणी के पद तक पहुँचा सके; न वह वीर-युग का युद्ध परायण आहत है जिसकी शिथिल और ठंडी ऊँगलियों से छूटती हुई तलवार संभाल लेने में ही उसके जीवन की सार्थकता हो; प्रत्युत वह इस उलझन भरे यंत्रयुग का एक सबसे अधिक उलझनमय यन्त्र हो गया है, जिसके जीवन में किसी प्रकार का सहयोग भी तब तक संभव नहीं, जब तक उसे ठीक-ठीक न समझ लिया जाए। समझ लेने पर भी सहयोग तभी सुगम हो सकेगा, जब स्त्री में भी जीवन के अनेक रूपों और परिस्थितियों के साथ चलने और उनके अनुरूप परिवर्तनों को हृदयंगम करने की शक्ति उत्पन्न हो जाए।

वास्तव में स्त्री भी अब केवल रमणी या भार्या नहीं रही' वरन् घर के बाहर भी समाज का एक विशेष अंग तथा

महत्वपूर्ण नागरिक है, अतः उसका कर्तव्य भी अनेकाकार हो गया है, जिसके पालन में कभी-कभी ऐसे संघर्ष के अवसर आ पड़ते हैं, जिसमें किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाना पड़ता है। वह क्या करे और क्या न करे, उसका कार्यक्षेत्र केवल घर है या बाहर, या दोनों ही, इस समस्या का अब तक समाधान नहीं हो सका है।

उसके सामने जो अन्य प्रगतिशील देशों की जागृत स्त्रियाँ हैं, वे इस निष्कर्ष तक पहुँच चुकी हैं कि स्त्री के लिए घर उतना ही आवश्यक है, जितना पुरुष के लिए; वह पुरुष के समान ही अपने जीवन को व्यवस्थित तथा कार्यक्षेत्र को निर्धारित कर सकती है तथा उसका मातृत्व या पत्नीत्व उसे अपना विशिष्ट मार्ग खोजने से नहीं रोक सकता और न उसके जीवन को घर की संकीर्ण सीमा तक ही सीमित रख सकता है। भारतीय स्त्री ने अभी तक इस समस्या पर निष्पक्ष होकर वैसा विचार नहीं किया, जैसा किया जाना चाहिए। परन्तु अव्यक्त और अज्ञात रूप से उसकी ओर होती जा रही है। हमारे यहाँ स्त्रियों में एक प्रतिशत भी साक्षरता नहीं है, इसलिए हमें इस प्रवृत्ति को भी उतनी ही कम संख्या में ढूँढना चाहिए।

संसार के बड़े से बड़े, असंभव से असंभव परिवर्तन के आदि में इने-गिने व्यक्ति ही रहते, शेष असंख्य व्यक्ति तो कुछ जानकर और कुछ अनजान में ही उनके अनुकरणशील बन जाया करते हैं। यदि किसी परिवर्तन का मूल्य या परिणाम

आलोचनीय हो, तो हमें उनके मूल प्रवर्तक तथा समर्थकों के दृष्टिकोण को समझ लेना उचित होगा, क्योंकि अनुकरणशील व्यक्तियों में प्राय: हमें उसका सच्चा रूप नहीं मिलता। अनुकरण तो मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु प्रत्येक कार्य की अन्तर्निहित प्रेरणा को उसी रूप में समझ पाना अपने-अपने बौद्धिक विकास पर निर्भर है।

भविष्य के स्त्री-समाज की रूपरेखा हमें इन्हीं विदुषियों से मिलेगी, जिन्हें हम अभी अल्प-संख्यक जानकर जानना नहीं चाहते, उन्हें हम अपवाद मानकर समझना नहीं चाहते। वे अपवाद हो सकती हैं, परंतु क्रमागत व्यवस्था के विरुद्ध किसी नवीन परिवर्तन को ले आने का श्रेय ऐसे अपवादों को ही मिलता रहा है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के बिना हम असंभाव्य को साधारण या संभव समझ ही नहीं पाते।

यदि हम अपने ही प्रान्त की थोड़ी-सी शिक्षित महिलाओं पर दृष्टिपात करें, तो प्रत्यक्ष हो जाएगा कि उन्होंने अधिकांश नवीन दृष्टिकोण को ही स्वीकार कर घर-बाहर में एक सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है, चाहे परिणामत: वह प्रयत्न सफल रहा, चाहे असफल, श्लाघ्य समझा गया, चाहे निन्द्य। इस युग में ऐसी शिक्षिता स्त्री कठिनता से मिलेगी, जिसे गृह में ऐसी आत्मतुष्टि मिल गयी हो, जिसको पाकर जीवन के अनेक आघातों को, जय-पराजयों को मनुष्य गर्व के साथ झेल लेता है। हमारी शिक्षित बहिनों में ऐसी भी हैं, जो केवल गृहिणीपन में संतोष न पाकर सार्वजनिक जीवन का उत्तरदायित्व भी

संभालती और कभी-कभी तो दूसरे कर्तव्य के पालन के लिए पहले की उपेक्षा करने पर भी बाध्य हो जाती हैं; ऐसी भी हैं जो अपनी सन्तान तथा गृहस्थी की ओर यथाशक्ति ध्यान देती हुई अन्य क्षेत्रों में भी कार्य करती हैं; ऐसी भी हैं जो गृहस्थ-जीवन तथा सार्वजनिक जीवन के संघर्ष से भयभीत होने के कारण पहले जीवन को स्वीकार ही नहीं करतीं; तथा ऐसी भी दुर्लभ नहीं जो समस्त शिक्षा का भार लिये घर में निष्क्रिय और खिन्न, समय व्यतीत करती रहती हैं। (यदि स्त्रियों के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभवों को हृदय में ही समाहित किये रहना स्वाभाविक न होता, तो संभव है समाज उनकी कठिनाइयाँ समझ सकता तथा उनके जीवन को अधिक सहानुभूति से देखना सीख सकता। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में उनके जीवन के विषय में भ्रांतिमय धारणा बना लेना जितना संभव है, उतना उन्हें उनके वास्तविक रूप में देखना नहीं। दरिद्र तथा श्रमजीवी इतर श्रेणी की स्त्रियों तक तो शिक्षा पहुँची ही नहीं है, परन्तु उनके सामने घर-बाहर की कोई समस्या भी नहीं है। ऐसी कोई सामाजिक तथा सार्वजनिक परिस्थिति नहीं है, जिसमें वे पुरुष के साथ नहीं रह सकतीं, न ऐसी कोई गृहस्थी या जीविका से संबन्ध रखने वाली समस्या है, जिसमें वे पुरुष की सहयोगिनी नहीं।

यह घर तथा बाहर का प्रश्न केवल उच्च, मध्यम तथा साधारण वित्तवाले गृहस्थों की स्त्रियों से संबन्ध रखता है तथा ऐसी परिस्थितियों में सदा उन्हीं तक सीमित रहेगा। गृह की

व्यवस्था और संतान-पालन की किन सुविधाओं को ध्यान में रखकर कब किराने ऐसी सामाजिक व्यवस्था रची थी, इसकी खोज-ढूँढ़ तो हमारा कुछ समाधान कर नहीं सकती। विचारणीय यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में क्या संभव है और क्या असभव।

पुरुष की जिस मनोवृत्ति ने उसे स्त्री को अपने ऐश्वर्य की प्रदर्शनी बनाकर रखने पर बाध्य किया, उसी ने कालान्तर में घर के कर्तव्यों से भी उसे अवकाश दे दिया। संपन्न कुलों में स्त्री को न सन्तान की विशेष देख-रेख करनी पड़ती है और न गृह की व्यवस्था ही। वह तो केवल स्वयं को अलंकृत करके पति या पिता के घर का अलंकार मात्र बन कर जीना जानती है; उसके लिए बाहर का संसार सजीव नहीं और न वह उसके लाभ के लिए कुछ श्रम करने को स्वछन्द ही है। हममें से प्रायः सब ऐसी रानी महारानी और अन्य संपन्न घरों की स्त्रियों के जीवन से परिचित होंगे, जिन्हें सुवर्ण देवता की हृदय-हीन मूर्ति की उपासना के अतिरिक्त और किसी कार्य का ज्ञान नहीं। भाग्यवश इनमें से जो कुछ भी शिक्षिता हो सकी हैं, इन्हें सार्वजनिक जीवन में कुछ कर सकने की स्वतन्त्रता उतनी नहीं मिल सकी, जितनी मिलनी उचित थी। इस श्रेणी की स्त्रियों के निकट, भोजन बनाने और सन्तान-पालन का गुणगान कुछ महत्व नहीं रखता, क्योंकि उनके परिवार की प्रतिष्ठा के स्वर के साथ यह गुणगान बेसुरा ही जान पड़ेगा।

मध्यम तथा निम्न मध्य श्रेणी के गृहस्थ दम्पति भी जहाँ तक उनकी आर्थिक परिस्थिति सुविधा देती है, इन कर्तव्यों से

छुटकारा पाने का प्रयत्न करते रहते हैं और इन्हें अपनी प्रतिष्ठा में बाधक समझते हैं। फिर वर्तमान युग की अनेक आर्थिक परिस्थितियों ने दास-दासियों को इतना सुलभ कर दिया है कि गृहिणी एक प्रकार से अपने उत्तरदायित्व से बहुत कुछ मुक्त हो गयी है। आज प्रायः वे परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं, जिन्होंने पुरुष का कार्यक्षेत्र बाहर और स्त्री का गृह तक ही सीमित कर दिया था। यह हमारा अज्ञान होगा यदि हम समय की गति को न समझना चाहें और जीवन को उस गति के अनुरूप बनाने को अभिशाप समझें।

जिस प्रकार सीधा पौधा कालान्तर में असंख्य शाखा-प्रशाखाओं तथा जड़ों के फैलाव से जटिल और दुरूह हो जाता है, उसी प्रकार हमारा जीवन असंख्य कर्तव्यों तथा संबन्धों का केंद्र होकर पहले जैसा सरल नहीं रह सका है।

यह सत्य है कि समाज की विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तिगत स्वार्थ और जीविका के अस्थिर साधनों ने मनुष्य के कुटुंब को छोटा कर दिया है, परन्तु इसी से उसकी अन्तर्मुखी शक्तियों ने और भी अधिक बहिर्मुखी हो कर घर से राष्ट्र तक या विश्व तक फैल कर आत्मतुष्टि को उतनी सुलभ नहीं रहने दिया, जितनी वह अतीत की सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक व्यवस्था में थी।

आज मनुष्य की प्रवृत्ति विश्वास का नहीं, बल्कि तर्क का आश्रय लेकर चलना चाहती है और चल रही है। अतः वह उन व्यवस्थाओं का मूल्य भी आँक लेना चाहती है, जिनके विषय में

युगों से किसी ने प्रश्न करने का साहस भी नहीं किया। जिस नरक-स्वर्ग ने मनुष्य जाति पर इतने दिनों तक निरंकुश शासन किया, उसका आज के प्रतिनिधि युवक या युवती के निकट उतना भी मूल्य नहीं है, जितना दादी द्वारा कही गयी गुलेबकावली की कहानी का; जिन भावनाओं ने असंख्य व्यक्तियों को घोर से घोरतर बलिदान के लिए प्रेरित किया, उनको भी आज मनुष्य तर्क की कसौटी पर कसने और उपयोग की तुला पर तौलने के उपरान्त ही स्वीकार करना चाहता है; जिस धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के प्रति मनुष्यता ने सदा से मूकभाव से मस्तक झुकाया, आज उसी को अपने रहने की भिक्षा माँगनी पड़ रही है। सारांश यह कि यह ऐसा युग है, जिसमें मनुष्य सब वस्तुओं को तर्क के द्वारा समझेगा और उनकी उपयोगिता जानकर ही स्वीकार करेगा। 'ऐसा होता आया है, इसलिए ऐसा होता रहना चाहिए;' इस तर्क में विश्वास करने वाले आज कम मिलेंगे और भविष्य में कदाचित् मिलेंगे भी नहीं।

स्त्री-समाज भी इस वातावरण में विकास पाने के कारण इन विशेषताओं से दूर नहीं रह सका और रहना स्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता था। इस तर्क-प्रवृत्ति को उसने अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण किया है, इसी से हम इसे शिक्षित महिला-समाज में जिस रूप में पाते हैं, उसी रूप में अशिक्षिताओं में नहीं पाते। जिसे देखने का अवकाश तथा बुद्धि प्राप्त है, वह स्त्री देखती है कि उसके सहयोगी पुरुष के समय का अधिकांश बाहर ही व्यतीत होता है, वह भोजन या विश्राम के अतिरिक्त

घर से, और किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता तथा बाहर उपार्जित ख्याति को स्थिर रखने के लिए सन्तान और उनके पालन तथा अपने विनोद के लिए पत्नी चाहता है। इसके विपरीत स्त्री को इतनी ही स्वच्छन्दता मिली है कि वह बाहर के जगत को केवल घर के झरोखे से कभी-कभी देख ले और मन में सदा यही विश्वास रखे कि वह कर्मक्षेत्र उसकी शक्तियों के अनुरूप कभी नहीं था और न भविष्य में कभी हो सकेगा। इस तर्क-प्रधान युग में ऐसी आशा करना कि सौ में से सौ स्त्रियाँ इस पर कभी आलोचना न करेंगी, या इसके विपरीत सोचने का साहस न कर सकेंगी, भूल के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ! कुछ स्त्रियों ने इसी युगान्तर दीर्घ विश्वास को हृदय से लगाकर अपने असन्तोष को दबा डाला; कुछ असन्तुष्ट होने के अतिरिक्त और कुछ न कर सकीं और कुछ ने बाहर आकर कौतुक से बाह्य जगत में अपनी शक्तियों को तोला। कौतूहलवश बाहर के संघर्षमय क्षेत्र में प्रवेश करने वाली स्त्रियों की शक्ति का ऐसा परिचय मिला कि पुरुष-समाज ही नहीं, स्त्री भी अपने सामर्थ्य पर विस्मित हो उठी। इतने दीर्घकाल तक निष्क्रिय रहने पर भी स्त्री ने सभी कार्यक्षेत्रों में पुरुष के समान ही सफलता पा ली। (यह अब तक प्रत्यक्ष हो चुका है कि वह अपनी कोमल भावनाओं को जीवित रखने पर भी कठिन से कठिन उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकती है, दुर्वह से दुर्वह कर्तव्य का पालन कर सकती है और दुर्गम से दुर्गम कर्मक्षेत्र में ठहर सकती है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की

शक्तियों का उसमें ऐसा सामंजस्य है, जो उसे कहीं भी उपहासास्पद न बनने देगा। ऐसी दशा में यह समस्या कि वह अपना कार्यक्षेत्र घर बनाए या बाहर, और भी अधिक जटिल हो उठी है।)

भिन्न-भिन्न देशों ने उसे अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुलझाया है, परन्तु सभी ने स्त्री को उसकी खोयी स्वतन्त्रता लौटा देने का प्रयत्न अवश्य किया है। हमारे देश में अभी न उनमें पूर्ण जागृति है और न इस प्रश्न का कोई समाधान ही आवश्यक जान पड़ा है। हम अपने प्राचीनतम आदर्शों को हृदय से लगाये भयभीत से बैठे, उस दिन के कभी न आने की कामना में लगे हुए हैं, जब स्त्री रसोई घर के धुएँ से लाल आँखों में विद्युत भर, पुरुष से पूछ बैठेगी—'क्या मुझसे केवल यही काम हो सकता है?' इस दिन को रोकने के लिए हम कभी उन महिलाओं पर अनेक प्रकार के लांछन लगाने से भी नहीं चूकते, जिन्होंने अपनी शक्तियों को किसी अन्य कार्य में लगाना अच्छा समझा; परन्तु उन उपायों से हम कब तक इस समस्या को भुला रखने में समर्थ रह सकेंगे, यही प्रश्न है। समाज को किसी न किसी दिन स्त्री के असन्तोष को सहानुभूति के साथ समझ कर, उसे ऐसा उत्तर देना होगा, जिसे पाकर वह अपने आपको उपेक्षित न माने और जो उसके मातृत्व के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए भी, उसे नवीन युग की सन्देशवाहिका बना सकने में समर्थ हो।

हम स्त्री के जीवन को, चारों ओर फैली हुई जटिलता में भी आदिम काल के जीवन जैसा सरल बना कर रखना चाहते हैं;

परन्तु यह तो समाज तथा राष्ट्र के विकास की दृष्टि से संभव नहीं। वह घर में अन्नपूर्णा बने या न बने, केवल वही प्रश्न नहीं है, प्रत्युत यह भी समस्या है कि यदि वह अपने वात्सल्य के कुछ अंश को बाहर के संसार को देना चाहे, तो घर उसे ऐसा करने की स्वतन्त्रता देगा या नहीं और यदि देगा तो किस मूल्य पर ? जब स्त्रियों को सुशिक्षिता बनने के लिए सुविधाएँ देने की चर्चा चली, तो बहुत-से व्यक्ति अगुआ बनने को दौड़ पड़े थे। यह कहना तो कठिन है कि इस प्रयत्न में कितना अंश अपनी ख्याति की इच्छा का था और कितना केवल स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का; परन्तु यह हम अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे सुधारप्रिय व्यक्तियों का दृष्टिकोण भी संकुचित ही रहा। उन्होंने वास्तव में यह नहीं देखा कि बौद्धिक विकास के साथ स्त्रियों में स्वभावतः अपने अधिकारों और कर्तव्यों को फिर से जाँचने की इच्छा जागृत हो जाएगी तथा वे घर के बाहर भी कुछ विशेष अधिकार और उसके अनुरूप कार्य करने की सुविधाएँ चाहेंगी। ऐसी परिस्थिति में युगों से चली आने वाली व्यवस्था के रूप में भी कुछ अन्तर आ सकता है।

अपनी असीम विद्या-बुद्धि का भार लिये हुए एक स्त्री किसी के गृह का अलंकार मात्र बनकर सन्तुष्ट हो सकेगी, ऐसी आशा, दुराशा के अतिरिक्त और क्या हो सकती थी ? वर्तमान युग के पुरुष ने स्त्री के वास्तविक रूप को न कभी देखा था, न वह उसकी कल्पना कर सका। उसके विचार में स्त्री के परिचय का आदि-अन्त इससे अधिक और क्या हो सकता था कि

वह किसी की पत्नी है। कहना नहीं होगा कि इस धारणा ने ही इतने असन्तोष को जन्म देकर पाला और पालती जा रही है।

स्त्रियों के उज्वल भविष्य को अपेक्षा रहेगी कि उसके घर और बाहर में ऐसा सामंजस्य हो सके, जो उसके कर्तव्य को केवल घर या केवल बाहर ही सीमित न कर दे। ऐसी सामंजस्यपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने में अभी समय लगेगा और संभव है, यह मध्य का समय हमारी क्रमागत सामाजिक व्यवस्था को कुछ डावांडोल भी कर दे, परन्तु निराशा को जन्म देने वाला कारण नहीं उत्पन्न होना चाहिए।

2

समय की गति के अनुसार न बदलने वाकी परिस्थितियों ने स्त्री के हृदय में जिस विद्रोह का अंकुर जम जाने दिया है, उसे बढ़ने का अवकाश यही घर-बाहर की समस्या दे रही है। जब तक समाज का इतना आवश्यक अंग अपनी स्थिति से असन्तुष्ट तथा अपने कर्तव्य से विरक्त है, तब तक प्रयत्न करने पर भी हम अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य नहीं ला सकते। केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् हमारे सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना विशेष कार्यक्षेत्र चुनने को स्वतंत्र हो। गृह की स्थिति भी तभी तक निश्चित है, जब तक हम गृहिणी की स्थिति को ठीक-ठीक समझ कर उससे सहानुभूति रख सकते हैं और समाज का वातावरण भी तभी तक सामंजस्यपूर्ण है, जब तक स्त्री तथा पुरुष के कर्तव्यों में सामंजस्य है।

आधुनिक युग में बाहर भी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जो स्त्री के सहयोग की उतनी अपेक्षा रखते हैं, जितनी पुरुष के सहयोग की। राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में पुरुष का सहयोग देने के अतिरिक्त समाज की अन्य ऐसी अनेक आवश्यकताएँ हैं, जो स्त्री से सहानुभूति और स्नेहपूर्ण सहायता चाहती हैं। उदाहरण के लिए हम शिक्षा के क्षेत्र को ले सकते हैं। हम अपनी आगामी पीढ़ी को निरक्षरता के शाप से बचाने के लिए अधिक से अधिक शिक्षालयों की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। आज भी श्रमजीवियों को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी अपने एक विशेष अवस्था वाले छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को ऐसे स्थानों में भेजने के लिए बाध्य होते हैं, जहाँ या तो दंडधारी, कठोर आकृति वाले, जीवन से असन्तुष्ट गुरुजी या अनुभवहीन हठी कुमारिकाएँ उनका निष्ठुर स्वागत करती हैं! एक विशेष अवस्था तक बालक-बालिकाओं को स्नेहमयी शिक्षिकाओं का सहयोग जितना अधिक मिलेगा, हमारे भावी नागरिकों का जीवन उतना ही अधिक सुन्दर सांचे में ढलेगा। हमारे बालकों के लिए कठोर शिक्षक के स्थान में यदि ऐसी स्त्रियाँ रहें, जो स्वयं माताएँ भी हों, तो कितने ही बालकों का भविष्य इस प्रकार नष्ट न हो सकेगा, जिस प्रकार आजकल हो रहा है। एक अबोध बालक या बालिका को हम एक ऐसे कठोर तथा अस्वाभाविक वातावरण में रख कर विद्वान या विदुषी बनाना चाहते हैं, जो उसकी आवश्यकता, उसकी स्वाभाविक दुर्बलता तथा स्नेह ममता की भूख से परिचित नहीं, अतः

अन्त में हमें या तो डर से सहमे हुए या उद्दण्ड विद्यार्थी ही प्राप्त होते हैं।

यह निर्भ्रान्त सत्य है कि बालकों की मानसिक शक्तियाँ स्त्री के स्नेह की छाया में जितनी पुष्ट और विकसित हो सकती हैं, उतनी किसी अन्य उपाय से नहीं। पुरुष का अधिक सम्पर्क तो बालक को असमय ही कठोर और सतर्क-सा बना देता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि बालक-बालिकाओं को स्त्री के अंचल की छाया में ही पालना उचित है, तो उनकी प्रारंभिक शिक्षा का भार माता पर ही क्यों न छोड़ दिया जाए। वे एक विशेष अवस्था तक माता की देख-रेख में रह कर तब किशोरावस्था में विद्यालयों में पहुँचाये जाएँ तो क्या हानि है ?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल है। मनुष्य ऐसा सामाजिक प्राणी है, जिसे केवल अपना स्वार्थ नहीं देखना है, जिसे समाज के बड़े अंश को लाभ पहुँचाने के लिए कभी-कभी अपने लाभ को भूलना पड़ता है, अपनी इच्छाओं को नष्ट कर देना होता है और अपनी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना पड़ता है। परंतु यह सामाजिक प्राणी के गुण, जो दो व्यक्तियों को प्रतिद्वन्द्वी न बनाकर सहयोगी बना सकते थे, तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब उन्हें बालकपन से समूह में पाला जाए। जो बालक जितना अधिक अकेला रखा जाएगा, उसमें अपनी प्रवृत्तियों के दमन की, स्वार्थ को भूलने की, दूसरों को सहयोग देने तथा पाने की शक्ति उतनी ही अधिक दुर्बल होगी। ऐसा

बालक कभी सच्चा सामाजिक व्यक्ति बन ही न सकेगा। मनुष्य क्या, पशुओं में भी बचपन के संसर्ग से ऐसा स्नेह सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है, जिसे देख कर विस्मित होना पड़ता है। जिस सिंह-शावक को बकरी के बच्चे के साथ पाला जाता है, वह बड़ा हो कर भी उससे शत्रुता नहीं कर पाता।

अकेले पाले जाने के कारण ही हमारे यहाँ बड़े आदमियों के बालक बढ़ कर खजूर के वृक्ष के समान अपनी छाया तथा फल दोनों ही अन्य व्यक्तियों को एक प्रकार से वंचित कर देते हैं! उनमें वह गुण उत्पन्न ही नहीं हो पाता, जो सामाजिक प्राणी के लिए अनिवार्य है। न उनको बचपन से सहानुभूति के आदान-प्रदान की आवश्यकता का अनुभव होता है, न सहयोग का। वे तो दूसरों का सहयोग अन्य आवश्यक वस्तुओं के समान ख़रीद कर ही प्राप्त करना जानते हैं; स्वेच्छा से मनुष्यता के नाते जो आदान-प्रदान, धनी-निर्धन, सुखी-दुःखी के बीच में संभव हो सकता है, उसे जानने का अवकाश ही उन्हें नहीं दिया जाता। बिना किसी भेदभाव के धूल-मिट्टी, आँधी-पानी, गर्मी-सर्दी में साथ खेलने वाले बालकों का एक-दूसरे के प्रति जो भाव रहता है, वह किसी और परिस्थिति में उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक माता को केवल उसी की संतान का संरक्षण सौंप देने से उसके स्वाभाविक स्नेह को सीमित कर देना होगा। जिस जल के दोनों ओर कच्ची मिट्टी रहती है वह उसे भेद कर दूर तक के वृक्षों को सींच सकता है, परंतु

जिसके चारों ओर हमने चूने की पक्की दीवार खड़ी कर दी है, वह अपने तट को भी नहीं गीला कर सकता; माता के स्नेह की यही दशा है। अपनी संतान के प्रति माता का अधिक स्नेह स्वाभाविक ही है, परंतु निरंतर अपनी सन्तान के स्वार्थ का चिन्तन उसमें इस सीमा तक विकृति उत्पन्न कर देता है कि वह अपने सहोदर या सहोदरा की सन्तान के प्रति भी निष्ठुर हो उठती है।

बालक-बालिकाओं के समान ही किशोर-वयस्क कन्याओं और युवतियों की शिक्षा के लिए भी हमें ऐसी महिलाओं की आवश्यकता होगी, जो उन्हें गृहिणी के गुण तथा गृहस्थ जीवन के लिए उपयुक्त कर्तव्यों की शिक्षा दे सकें। वास्तव में ऐसी शिक्षा उन्हीं के द्वारा दी जानी चाहिए, जिन्हें गृह-जीवन का अनुभव हो और जो स्वयं माताएँ हों। आजकल हमारे शिक्षा-क्षेत्र में विशेष रूप से वे ही महिलाएँ कार्य करती हैं, जिन्हें न हमारी संस्कृति का ज्ञान है, न गृह-जीवन का। अतः हमारी कन्याएँ अविवाहित जीवन का ऐसा सुनहला स्वप्न लेकर लौटती हैं, जो उनके गृह-जीवन को अपनी तुलना में कुछ भी सुन्दर नहीं ठहरने देगा। संभव है, उस जीवन को पाकर वे इतनी प्रसन्न न होतीं, परंतु उसकी संभावित स्वच्छन्दता उन्हें गृह के बन्धनों से विरक्त किये बिना नहीं रहती।

जब तक हम अपने यहाँ की गृहिणियों को बाहर आकर इस क्षेत्र में कुछ करने की स्वतन्त्रता न देंगे, तब तक हमारी शिक्षा में व्याप्त बिष बढ़ता ही जाएगा। केवल गार्हस्थ्य-

शास्त्र या सन्तान-पालन विषयक पुस्तकें पढ़कर कोई किशोरी गृह से प्रेम करना नहीं सीख जाती। इस संस्कार को दृढ़ करने के लिए ऐसी स्त्रियों के सजीव उदाहरण की आवश्यकता है, जो आकाश के मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द भाव से अधिक से अधिक ऊँचाई तक उड़ने की शक्ति रख कर भी, बसेरे को प्यार करने वाले पक्षी के समान कार्यक्षेत्र में स्वतन्त्र, परन्तु घर के आकर्षण से बंधी हों। स्त्री को बाहर कुछ भी कर सकने का अवकाश नहीं है और बाहर कार्य करने से घर की मर्यादा नष्ट हो जाएगी, इस पुरानी कहानी में विशेष तत्व नहीं है और हो भी तो, नवीन युग उसे स्वीकार न कर सकेगा। यदि किसान की स्त्री घर में इतना परिश्रम करके खेती के अनेक कामों में पति का हाथ बंटा सकती है या साधारण श्रेणी के श्रमजीवियों की स्त्रियाँ घर-बाहर के कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं और उनका घर वन नहीं बन जाता, तो हमारे यहाँ अन्य स्त्रियाँ भी अपनी शक्ति, इच्छा तथा अवकाश के अनुसार घर से बाहर कुछ करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अवकाश के समय का दुरुपयोग वे केवल अपनी प्रतिष्ठा की मिथ्या भावना के कारण ही करती हैं और इस मिथ्या भावना को हम बालू की दीवार की तरह गिरा सकते हैं। यह सत्य है कि हमारे यहाँ सुशिक्षिता स्त्रियाँ कम हैं, जो शिक्षा के क्षेत्र में तथा घर में समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती हों, परन्तु यह भी कम सत्य नहीं कि हमने उनकी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर उनके जीवन को पंगु बनाने में कोई कसर नहीं रखी। यदि वे अपनी

बहनों तथा उनकी सन्तान के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य करें, तो उन्हें घर जीवन-भर के लिए निर्वासन का दंड देगा, जो साधारण स्त्री के लिए सबसे अधिक कष्टकर दंड है। यदि वे जीवन-भर कुमारी रह कर संतान तथा सुखी गृहस्थी का मोह त्याग सकें, तो इस क्षेत्र में उन्हें स्थान मिल सकता है, अन्यथा नहीं। विवाह करते ही सुखी गृहस्थी के स्वप्न सच्ची हथकड़ी-बेडी बन कर उनके हाथ-पैर ऐसे जकड़ देते हैं कि उनमें जीवन-शक्ति का प्रवाह ही रुक जाता है। किसी बड़भागी के सौभाग्य का साकार प्रमाण बनने के उपलक्ष्य में वे घूमने के लिए कार पा सकती हैं, पालने के लिए बहुमूल्य कुत्ते, बिल्ली मँगा सकती हैं और इससे अवकाश मिले तो बड़ी-बड़ी पार्टियों की शोभा बढ़ा सकती हैं, परन्तु काम करना, चाहे वह देश के असंख्य बालकों को मनुष्य बनाना ही क्यों न हो, उनके पति की प्रतिष्ठा को आमूल नष्ट कर देता है। इस भावना ने स्त्री के मर्म में कोई ठेस नहीं पहुँचायी है, यह कहना असत्य कहना होगा; क्योंकि उस दशा में विवाह से विरक्त युवतियों की इतनी अधिक संख्या कभी नहीं मिलती। कुछ व्यक्तियों में वातावरण के अनुकूल बन जाने की शक्ति अधिक होती है और कुछ में कम, इसी से किसी का जीवन निरानंद नहीं हो सका और किसी का सानंद नहीं बन सका। परन्तु परिस्थियाँ प्रायः एक-सी ही रहीं।

आधुनिक शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ अच्छी गृहिणियाँ नहीं बन सकतीं, यह प्रचलित धारणा पुरुष के दृष्टि बिन्दु से देख कर ही

बनायी गयी है, स्त्री की कठिनाई को ध्यान में रख कर नहीं। एक ही प्रकार के वातावरण में पले और शिक्षा पाये हुए पति-पत्नी के जीवन तथा परिस्थितियों की यदि हम तुलना करें, तो संभव है आधुनिक शिक्षित स्त्री के प्रति कुछ सहानुभूति का अनुभव कर सकें। विवाह से पुरुष को तो कुछ छोड़ना नहीं होता और न उसकी परिस्थितियों में कोई अन्तर ही आता है, परन्तु इसके विपरीत स्त्री के लिए विवाह मानों एक परिचित संसार छोड़ कर नवीन संसार में जाना है, जहाँ उसका जीवन सर्वथा नवीन होगा। पुरुष के मित्र, उसकी जीवनचर्या, उसके कर्तव्य, सब पहले जैसे ही रहते हैं और वह अनुदार न होने पर भी शिक्षिता पत्नी के परिचित मित्रों, अध्ययन तथा अन्य परिचित दैनिक कार्यों के अभाव को नहीं देख पाता। साधारण परिस्थिति होने पर भी घर में इतर कार्यों से स्त्री को अवकाश रहता है, संयुक्त कुटुंब न होने से बड़े परिवार के प्रबन्ध की उलझनें भी नहीं घेरी रहतीं, उसके लिए पुरुष मित्र वर्ज्य और उसे मित्र बनाने के लिए शिक्षिता स्त्रियाँ कम मिलती हैं, अत: एक विचित्र अभाव का उसे बोध होने लगता है। कभी-कभी पति के आने-जाने जैसी छोटी बातों में बाधा देने पर वह विरक्त भी हो उठती है। अच्छी गृहिणी कहलाने के लिए उसे केवल पति की इच्छा के अनुसार कार्य करने तथा मित्रों और कर्तव्य से अवकाश के समय उसे प्रसन्न रखने के अतिरिक्त और विशेष कुछ नहीं करना होता, परन्तु यह छोटा-सा कर्तव्य उसके महान अभाव को नहीं भर पाता।

ऐसी शिक्षिता महिलाओं के जीवन को अधिक उपयोगी बनाने तथा उनके कर्तव्य को अधिक मधुर बनाने के लिए हमें उन्हें बाहर भी कुछ कर सकने की स्वतन्त्रता देनी होगी। उनके लिए घर-बाहर की समस्या का समाधान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; अन्यथा उनके मन की अशांति घर की शांति और समाज का स्वस्थ वातावरण नष्ट कर देगी। हमें बाहर भी उनके सहयोग की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी घर में, इसमें संदेह नहीं।

शिक्षा के क्षेत्र के समान चिकित्सा के क्षेत्र में भी स्त्रियों का सहयोग वांछनीय है। हमारा स्त्री-समाज कितने रोगों से जर्जर हो रहा है, उसकी सन्तान कितनी अधिक संख्या में असमय ही काल का ग्रास बन रही है, यह पुरुष से अधिक स्त्री की खोज का विषय है। जितनी अधिक सुयोग्य स्त्रियाँ इस क्षेत्र में होंगी उतना ही अधिक समाज का लाभ होगा। स्त्री में स्वाभाविक कोमलता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है, साथ ही पुरुष के समान व्यवसाय-बुद्धि प्रायः उसमें नहीं रहती, अतः वह इस कार्य को अधिक सहानुभूति तथा स्नेह के साथ कर सकती है। अपने सहज स्नेह तथा सहानुभूति के कारण ही रोगी की परिचर्या के लिए नर्स ही रखी जाती है। सत्य है कि न सब पुरुष ही इस कार्य के उपयुक्त होते हैं और न सब स्त्रियाँ; परन्तु जिन्हें इस गुरुतम कर्तव्य के लिए रुचि और सुविधाएँ, दोनों ही मिली हैं, उन स्त्रियों का इस क्षेत्र में प्रवेश करना उचित ही होगा। कुछ इनी-गिनी स्त्री-चिकित्सक हैं भी,

परन्तु समाज अपनी आवश्यकता के समय ही उनसे संपर्क रखता है। उनका शिक्षिकाओं से अधिक बहिष्कार है, कम नहीं। ऐसी महिलाओं से जिन्होंने सुयोग्य और संपन्न व्यक्तियों से विवाह करके बाहर के वातावरण की नीरसता को घर की सरसता से मिलाना चाहा, उन्हें प्रायः असफलता ही प्राप्त हो सकी। उनका इस प्रकार घर की सीमा से बाहर कार्य करना पतियों की प्रतिष्ठा के अनुकूल न सिद्ध हो सका, इसलिए अन्त में उन्हें अपनी शक्तियों को घर तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे पारिवारिक जीवन में कितनी सुखी हुईं, यह कहना तो कठिन है, परन्तु उन्हें इस प्रकार खो कर स्त्री-समाज अधिक प्रसन्न न हो सका। यदि झूठी प्रतिष्ठा की भावना इस प्रकार बाधा न डालती और वे अवकाश के समय का कुछ अंश इस कर्तव्य के लिए भी रख सकतीं, तो अवश्य ही समाज का अधिक कल्याण होता।

चिकित्सा के समान कानून का क्षेत्र भी स्त्रियों के लिए उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। यदि स्त्रियों में ऐसी बहिनों की पर्याप्त संख्या रहतीं, जिनके निकट कानून एक विचित्र वस्तु न होता, तो उनकी इतनी दुर्दशा न हो सकती। स्त्री समाज के ऐसे प्रतिनिधि न होने के कारण ही किसी भी विधान में, समय तथा स्त्री की स्थिति के अनुकूल कोई परिवर्तन नहीं हो पाता और न साधारण स्त्रियाँ अपनी स्थिति से संबंध रखने वाले किसी कानून से परिचित ही हो सकती हैं। साधारण स्त्रियों की बात तो दूर रही, शिक्षिताएँ भी इस आवश्यक

विषय से इतनी अनभिज्ञ रहती हैं कि अपने अधिकार और स्वत्वों में विश्वास नहीं कर पातीं। सहस्रों की संख्या में वकील और बैरिस्टर बने हुए पुरुषों के मुख से इस कार्य को आत्मा का हनन तथा असत्य का पोषण सुन-सुन कर, उन्होंने असत्य को इस प्रकार त्यागा कि सत्य को भी न बचा सकीं। वास्तव में एसे विषयों में स्त्री की अज्ञता उसी की स्थिति को दुर्बल बना देती है, क्योंकि उस दशा में न वह अपने अधिकार का सच्चा रूप जानती है और न दूसरे के स्वत्वों का, जिससे पारस्परिक संबंध में सामंजस्य उत्पन्न हो ही नहीं पाता। वकील, बैरिस्टर महिलाओं की संख्या तो बहुत ही कम है और उनमें भी कुछ ही गृहजीवन से परिचित हैं।

प्रायः पुरुष यह कहते सुने जाते हैं कि बहुत पढ़ी-लिखी या कानून जानने वाली स्त्री से विवाह करते उन्हें भय लगता है। जब एक निरक्षर स्त्री बड़े से बड़े विद्वान से, कानून का एक शब्द न जानने वाली वकील या बैरिस्टर से और किसी रोग का नाम भी न बता सकने वाली बड़े से बड़े डाक्टर से विवाह करते भयभीत नहीं होती, तो पुरुष ही अपने समान बुद्धिमान तथा विद्वान स्त्री से विवाह करने में क्यों भयभीत होता है? इस प्रश्न का उत्तर पुरुष के उस स्वार्थ में मिलेगा, जो स्त्री से अंधभक्ति तथा मूक अनुसरण चाहता है। विद्या-बुद्धि में जो उसके समान होगी, वह अपने अधिकार के विषय में किसी दिन भी प्रश्न कर ही सकती है; सन्तोषजनक उत्तर न देने पर विद्रोह भी कर सकती है; अतः पुरुष क्यों एसी स्त्री को संगिनी

बना कर अपने साम्राज्य की शांति भंग करे ! जब कभी किसी कारण से वह ऐसी जीवन-संगिनी चुन भी लेता है, तो सब प्रकार के कोमल साधनों से अपनी छाया मात्र बना कर रखना चाहता है, जो प्रायः संभव नहीं होता।

इन कार्यक्षेत्रों के अतिरिक्त, स्त्री तथा बालकों के लिए अन्य उपयोगी संस्थाओं की स्थापना कर उन्हें सुचारु रूप से चलाना, स्त्रियों में संगठन की इच्छा उत्पन्न करना, उन्हें सामयिक स्थिति से परिचित कराना आदि कार्य भी स्त्रियों के ही हैं और इन्हें वे घर से बाहर जाकर ही कर सकती हैं। इन सब कार्यों के लिए स्त्रियों को अधिक संख्या में सहयोग देना होगा, अतः यह आशा करना कि ऐसे बाहर के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने वाली सभी स्त्रियाँ परिवार को त्याग, गृहजीवन से विदा लेकर बौद्ध भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करें, अन्याय ही है। कुछ स्त्रियाँ ऐसा जीवन बिता सकती हैं; परन्तु अन्य सबको घर और बाहर सब जगह कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलनी ही चाहिए।

इस संबंध में आपत्ति की जाती है कि जब स्त्री अपना सारा समय घर की देख-रेख और सन्तान के पालन के लिए नहीं दे सकती, तो उसे गृहिणी बनने की इच्छा ही क्यों करनी चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण तो हमारे समाज की सामयिक स्थिति ही कर सकती है। स्त्री के गृहस्थी के प्रति कर्तव्य की मीमांसा करने के पहले, यदि हम यह भी देख लेते कि आजकल का व्यस्त पुरुष, पत्नी और संतान के प्रति ध्यान

देने का कितना अवकाश पाता है, तो अच्छा होता । जिस श्रेणी की स्त्रियों को बाहर भी कुछ कर सकने का अवकाश मिलता है, उनके डाक्टर, वकील या प्रोफेसर पति अपने दैनिक कार्य, सार्वजनिक कर्तव्य तथा मित्रमंडली से केवल रात से बसेरे के लिए ही अवकाश पाते हैं और यदि मनोविज्ञान से अपरिचित पत्नी ने उस समय घर या संतान की कोई चर्चा छेड़ दी, तो या तो उनके दोनों नेत्र नींद से मूंद जाते हैं या तीसरा क्रोध का नेत्र खुल जाता है ।

परन्तु ऐसी गृहणियों को जब हम अन्य सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिए आमंत्रित करेंगे, तब समाज की इस शंका का कि इनकी सन्तान की क्या दशा होगी, उत्तर भी देना होगा । स्त्री बाहर भी अपना कार्यक्षेत्र बनाने के लिए स्वतंत्र हो और यह स्वतंत्रता उसे निर्वासन का दंड न दे सके, इस निष्कर्ष तक पहुँचने का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री प्रत्येक दशा में सार्वजनिक कर्तव्य के बंधन से मुक्त न हो सके । ऐसी कोई माता नहीं होती, जो अपनी सन्तान को अपने प्राण के समान नहीं चाहती । पुरुष के लिए बालक का महत्व नहीं है, जो स्त्री के लिए है; अतएव यह सोचना कि माता अपने शिशु के सुख की बलि देकर बाहर कार्य करेगी, मातृत्व पर कलंक लगाना है । आज भी सार्वजनिक क्षेत्रों में कुछ सन्तानवती स्त्रियाँ कार्य कर रही हैं और निश्चय ही उनकी सन्तान कुछ न करनेवाली स्त्रियों की सन्तान से अच्छी ही हैं । कैसा भी व्यस्त जीवन बितानेवाली श्रान्त माता अपने रोते हुए बालक को हृदय से लगाकर सारी

क्लान्ती भूल सकती है; परन्तु पुरुष के लिए ऐसा कर सकना संभव ही नहीं है। फिर केवल हमारे समाज में माताएँ नहीं हैं और ऐसे देशों में भी है, जहाँ उन्हें और भी उत्तरदायित्व संभालने होते हैं। हमारे देश में भी साधारण स्त्रियाँ मातृत्व को ऐसा भारी नहीं समझतीं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि पुरुष पंख काटकर सोने के पिंजरे मे बंद पक्षी के समान स्त्री को अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा की बंदिनी न बनाए। यदि विवाह सार्वजनिक जीवन से निर्वासन न बने, तो निश्चय ही स्त्री इतनी दयनीय न रह सकेगी। घर से बाहर भी अपनी रुचि, शिक्षा और अवकाश के अनुरूप जो कुछ वह करना चाहे, उसमें उसे पुरुष के सहयोग और सहानुभूति की अवश्य ही अपेक्षा रहेगी और पुरुष यदि अपनी वंशक्रमागत अधिकार-युक्त अनुदार भावना को छोड़ सके, तो बहुत-सी कठिनाइयाँ स्वयं ही दूर हो जाएँगी।

3

(बाहर के सार्वजनिक कार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें स्त्री घर में रहकर भी बहुत कुछ कर सकती है।) उदाहरण के लिए हम साहित्य के क्षेत्रों को ले सकते हैं, जिसके निर्माण में स्त्री का सहयोग व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।) यदि पुरुष साहित्य के निर्माण को अपनी जीविका का साधन बना सकता है, तो स्त्री के लिए भी यह कार्य संकोच का कारण क्यों बन सकेगा! (यदि वैयक्तिक दृष्टि से देखा जाए, तो इससे स्त्री के जीवन में अधिक उदारता और समवेदन-शीलता आ सकेगी, उनकी मानसिक शक्तियों का

अधिक से अधिक विकास हो सकेगा तथा उसे अपने कर्तव्य की गुरुता का भार, भार न जाने पड़ेगा। यदि सामाजिक रूप से इसकी उपयोगिता जांची जाए, तो हम देखेंगे कि स्त्री का साहित्यिक सहयोग, साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति करता है। साहित्य यदि स्त्री के सहयोग से शून्य हो, तो उसे आधी मानवजाति के प्रतिनिधित्व से शून्य समझना चाहिए। पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है, परंतु अधिक सत्य नहीं; विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व कल्पना है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सके।

महिला-साहित्य के अतिरिक्त बाल-साहित्य के निर्माण की भी वह पुरुष की अपेक्षा अधिक अधिकारणी है; कारण, बालकों की आवश्यकताओं का, उनकी भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों का जैसा प्रत्यक्षीकरण माता कर सकती है वैसा पिता नहीं कर पाता। बालक के शरीर और मन दोनों के विकास के क्रम जैसे उसके सामने आते रहते हैं, वैसे और किसीके सामने नहीं। अतः वह प्रत्येक पौधे के अनुकूल जलवायु और मिट्टी के विषय में जाननेवाले चतुर माली के समान ही अपनी सन्तान के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकती है।

ऐसे कार्य अधिक हैं, जिन्हें करने में मनुष्य को आवश्यकता का अधिक ध्यान रखना पड़ता है, सुख का कम; परन्तु साहित्य

यदि सत्य अर्थ में साहित्य हो, तो उसका निर्माता सुख तथा उपयोग को एक ही तुला पर समान रूप से गुरु पा सकता है। स्त्री यदि वास्तव में शिक्षित हो, तो अपने गृहस्थी के कामों से बचे हुए आवकाश के समय को साहित्य की सेवा में लगा सकती है और इस व्यवसाय से उसे वह प्रसन्नता भी मिलेगी, जो आत्मतुष्टि से उत्पन्न होती है और वह तृप्ति भी, जो परोपकार से जन्म पाती है। प्राय: सम्भ्रान्त व्यक्ति यह कहते हुए सुने जाते हैं कि उनके घर की महिलाएँ किसी योग्य नहीं हैं, परंतु ऐसे सज्जनों में दो ही चार अपनी गृहिणियों को कुछ करने का सुयोग देने पर उद्यत होंगे। संपन्न गृहस्थी के घरों में भी स्त्रियों के मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। शरीर जिस प्रकार भोजन न पाकर दुर्बल होने लगता है, स्त्रियों का मस्तिष्क भी साहित्य रूपी खाद्य न पाकर निष्क्रिय होने लगता है, जिसका परिणाम मानसिक जड़ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। अपने अवकाश के समय सभी किसी न किसी प्रकार का मनोविनोद चाहते हैं और जिस मनोविनोद में सुलभ होने की विशेषता न हो, उसे प्राय: कोई नहीं ढूँढता। हमारे यहाँ स्त्रियों में साहित्य वातावरण बनाये रखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता; अत: (यदि स्त्री की प्रवृत्ति इस ओर हुई भी तो अनुकूल परिस्थितियाँ न पाकर उसका नष्ट हो जाना ही संभव है।)

प्राय: जिन वकील या प्रोफेसरों के पास उनके आवश्यक या प्रिय विषयों से संबंध रखनेवाली हज़ार पुस्तकें होती हैं, उनकी

पत्नियाँ दस पुस्तकें भी रखने के लिए स्वतंत्र नहीं होतीं। इसे किसका दुर्भाग्य कहा जाए, यह स्पष्ट है। हमारे यहाँ पुरुष-समाज की यह धारणा कि साहित्य का संबन्ध केवल उपाधि-धारिणी महिलाओं से है और उसकी सीमा अंग्रेज़ी भाषा तक ही है, बहुत कुछ अनर्थ करा रही है। हमें अब भी यह जानना है कि अपनी भाषा का ज्ञान भी हमें विद्वान और विदुषी के पद तक पहुँचा देने के लिए पर्याप्त हो सकता है और अपने साहित्य की सेवा भी हमें विश्व-साहित्यिकों की श्रेणी में बैठा सकती है। यदि हम सुविधाएँ दे सकते, तो हमारे घरों में ऐसा साहित्यिक वातारण उत्पन्न हो सकता था, जो कठिन से कठिन कर्तव्य और कटु से कटु अनुभव को कोमल और मधुर बना सकता। अनेक व्यक्ति शंका करेंगे कि क्या ऐसे ठोक-पीटकर और पुस्तकालय में बन्दी कर साहित्यिक महिलाएँ गढ़ी जा सकेंगी! यह सत्य है कि प्रतिभा ईश्वरदत्त या नैसर्गिक होती है, परंतु इसका नैसर्गिक होना वैसे ही निष्क्रिय बना दिया जा सकता है, जैसे विकास की प्राकृतिक प्रवृत्ति से युक्त अंकुर को शिला से दबाकर उसे विकास-हीन कर देना संभव है।

हमारा साहित्य इस समय भी ऐसी अनेक महिलाओं के सहयोग से विकास कर रहा है, जिनकी प्रतिभा अनुकूल परिस्थितियों के कारण ही संसार से परिचित हो सकी है। उनमें से ऐसी देवियाँ भी हैं, जिनकी गृहस्थी सुख और सन्तोष से भरी है, जिनकी साहित्य-सेवा उनकी आर्थिक कठिनाइयों को दूर करती है और जो अपने जीवन-संगियों को उपयुक्त सहयोग देकर

नाम से नहीं, किन्तु कार्य से भी सहधर्मिणी हैं। ऐसे दम्पति अब केवल कल्पना नहीं रहे, जिनमें पति-पत्नी दोनों की आजीविका साहित्य-सेवा हो या जहाँ एक भिन्न क्षेत्र में काम करके भी दूसरे की साहित्य-सेवा में सहयोग दे सके। जिन्होंने उच्च शिक्षा पाकर शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र को अपनाया है, ऐसी महिलाओं का भी नितान्त अभाव नहीं। फिर सुविधा देने पर और अधिक बहनें क्यों न अपने समय का अच्छा से अच्छा उपयोग करेंगी ? यह चिन्ता कि उस दशा में गृह की मर्यादा न रहेगी या स्त्रियाँ न माता रहेंगी, न पत्नी, बहुत अंशों में भ्रान्ति-मूलक है। साहित्य के नाम पर हमने कुछ थोड़े-से सस्ते भावुकता-भरे उपन्यास रख लिये हैं, जिन्हें हाथ में लेते ही हमारी बालिकाएँ एक विचित्र कल्पना-जगत का प्राणी बन जाती हैं और उसी के परिणाम ने हमें इतना सतर्क बना दिया है कि हम साहित्यिक वातारण को एक प्रकार का रोग समझने लगे हैं और जिसके घर में आते ही जीना कठिन हो जाता है। उपयोगी से उपयोगी वस्तु का गुण भी प्रयोग पर निर्भर है, यह कौन नहीं जानता ! हम संखिया जैसे विष को भी औषधि के रूप में खाकर जीवित रह सकते हैं और अन्न जैसे जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ को भी बहुत अधिक मात्रा में खाकर मर सकते हैं। यही साहित्य के लिए भी सत्य है। हम उसमें जीवन शक्ति भी पाते हैं और मृत्यु की दुर्बलता भी। यदि हम उसे जीवन का प्रतिबिंब समझकर उससे अपने अनुभव के कोष को बढ़ाते हैं, उसे अपने क्षीण दुर्बल जीवन के लिए

आशा की संजीवनी बना सकते हैं, तो उससे हमारा कल्याण होता है। परन्तु इसके विपरीत जब हम उससे अपने थके जीवन के लिए क्षणिक उत्तेजना मात्र चाहते हैं, तब उससे हमारी वही हानि हो सकती है जो मदिरा से होती है। क्षणिक उत्तेजना का अन्त असीम थकावट के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

परन्तु स्त्री को किसी भी क्षेत्र में कुछ करने की स्वतंत्रता देने के लिए पुरुष के विशेष त्याग की आवश्यकता होगी। पुरुष अब तक जिस वातावरण में साँस लेता रहा है, वह स्त्री को दो ही रूप में बढ़ने दे सकता है, माता और पत्नी। स्त्री जब घर से बाहर भी अपना कार्यक्षेत्र रखेगी, तो पुरुष को उसे और प्रकार की स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी, जिसकी घर में आवश्यकता नहीं पड़ती। उसे आने-जाने की, अन्य व्यक्तियों से मिलने-जुलने की तथा उसी के क्षेत्र में कार्य करनेवालों को सहयोग देने की आवश्यकताएँ प्राय: पड़ती रहेंगी। ऐसी दशा में पुरुष यदि उदार न हुआ और प्रत्येक कार्य को उसने संकीर्ण और संदिग्ध दृष्टि से देखा, तो जीवन असह्य हो उठेगा। वास्तव में स्त्री की स्थिति के विषय में कुछ भी निश्चित होने के पहले पुरुष को अपनी स्थिति को निश्चित कर लेना होगा। समय अपनी परिवर्तनशील गति में उसके देवत्व और स्त्रीत्व के दासत्व को बहा ही ले गया है; अब या तो दोनों को विकासशील मनुष्य बनना होगा या केवल यन्त्र।

गांधीजी की देन

डा. राजेन्द्र प्रसाद

गांधीजी और उनकी शिक्षाएँ, उनका दर्शन और उनका जीवन बहुमुखी रहे हैं और हम, जिन्हें उनसे संपर्क का सौभाग्य मिला है, वे उनकी सभी शिक्षाओं को पूर्णतया सामूहिक रूप से समझने में सदैव सफल नहीं हो सके।

हम सबने उनके विभिन्न विषयों, जैसे उनकी सीख, उनके विचार और उनके व्यावहारिक जीवन को अपनी-अपनी दृष्टि से अपनाया। इस तरह उनकी सभी चीजों को हम व्यापक रूप से समझ नहीं पाये और अपने-अपने विचार के अनुसार किसी एक काम में संलग्न हो गये। गांधीजी में अपने विविध प्रकार के कामों के लिए ठीक आदमी चुन लेने की अद्‌भुत शक्ति थी और जिसकी जैसी बुद्धि थी, जैसी शिक्षा थी, जैसा रहन-सहन था और जैसी योग्यता थी, उसके अनुसार उसे काम दे दिया। उनके विचारों की पृष्ठ-भूमि और उनकी शिक्षा में जो सिद्धांत निहित थे, उनको मानते हुए भी हम लोगों ने कभी कभी अपनी दृष्टि को संकुचित बना लिया है और किसी एक बात पर आवश्यकता से अधिक जोर दे दिया है और दूसरी बातों को नजरंदाज कर दिया है। इसके लिए हम किसीको दोष नहीं देते हैं, क्योंकि यह संकुचिता किसी विशेष विषय के साथ गहरा संबंध और तत्सबंधी अपने गहरे विश्वास के कारण हुई। हमने महसूस किया कि लगन और विश्वास की

कमी कभी कभी लाभदायक हो सकती है और अपनी इस कमी के कारण हम सब बातों पर व्यापक दृष्टि डाल सकें, जिसमें किसी एक विषय पर अनावश्यक ज़ोर और जो कुछ गांधीजी के सिद्धांत थे और जो कुछ वह चाहते थे, सब बातों पर समान ध्यान पड़ सके।

आप मेरे इस अभिप्राय को तब समझेंगे, जब मैं उनके द्वारा स्थापित कई संस्थाओं का, जो उनके किसी एक विचार को लेकर चल रही थीं, ज़िक्र करूँगा। उन्होंने चर्खा संघ, ग्रामोद्योग संघ, गोसेवा संघ इत्यादि स्थापित किया और इंडियन नेशनल कांग्रेस का, जिसका अस्तित्व बहुत दिनों से था, उन्होंने पुनर्संगठन किया। उसमें नवजीवन और नयी स्फूर्ति भरी और उसका उन्होंने इतना विस्तार बढा दिया कि उसका सारा ही रूप बदल गया। ये सब संस्थाएँ, उनके विभिन्न विचारों को लेकर चलती रहीं और एक गांधीजी उन्हें एक सूत्र में बांधे रखने का साधन या कड़ी थे। वे उस तरह के विचारक या दार्शनिक नहीं थे, जैसे अन्य दार्शनिक या विचारक अपना सिद्धांत लिखकर दूसरे के अध्ययन और आचारण के लिए छोड़ जाते हैं। उनके कुछ मौलिक सिद्धांत थे, जिनपर वे अपने जीवन भर दृढ़ रहे और अन्य बातों के संबंध में जो काम उनके सामने आया, उसको उन्होंने हाथ में लिया, जो प्रश्न उनके सामने आये उनका उन्होंने हल निकाला और एक पाठ्य-पुस्तक में सिलसिलेवार जीवन और समाज संबंधी अपनी सारी धारणाओं को न लिखकर, उन्होंने एक-एक प्रश्न का अलग-अलग

निबटारा किया और इस तरह से मनुष्य के सारे जीवन पर, विशेषकर इस देश पर, वह छा गये।

भारतीय जीवन का ऐसा कोई भाग नहीं है, जो महात्माजी से अछूत रह गया हो, जिसपर उनके जीवन का असर न पड़ा हो और जिसके लिए उन्होंने कुछ अपनी देन न दी हो। उन्होंने समाज का एक पूरा चित्र बना लिया, जो पुस्तकीय ज्ञान से नहीं निकला था, जो निरे मानसिक श्रम उपज नहीं थी, बल्कि जीवन के प्रतिदिन के अनुभव, समस्याओं और उनके हल को ध्यान में रखकर तैयार किया गया था और जिसे वह दूसरों को अच्छी तरह से दिखा सकते थे और कबूल करा सकते थे।

मेरी एक कठिनाई है, जो एक प्रकार से निजी है। वह यह कि इस कान्फ्रेन्स में बोलना मेरे लिए कुछ असंगत मालूम होता है। गांधीजी का नाम अहिंसा के साथ जुड़ा हुआ था, युद्ध में उनका विश्वास नहीं था, पर मैं उस देश का प्रधान हूँ, जिसने लड़ाई का त्याग नही किया है, जिसने हिंसा को बिलकुल छोड़ नहीं दिया है और न सेना को रखना छोड़ा है। इतना ही नहीं, हमने गांधीजी के आर्थिक कार्यक्रम पर भी पूरा का पूरा अमल नहीं किया है। तब फिर ऐसे देश के प्रधान की हैसियत से मुझको क्या अधिकार है कि आपके सामने उनके सिद्धातों के संबंध में बोलने का साहस करूँ जब कि आप महानुभाव दूर-दूर देशों से यह जानने आये हैं कि गांधीजी क्या करते थे और क्या करना चाहते थे ! लेकिन फिर भी मैं कहूँगा कि आपका ध्यान

इस बात पर जाएगा कि गांधीजी अपने काम में कहाँ तक पहुँचे थे, तो उससे भी आपको प्रेरणा मिलेगी। गांधीजी क्या करना चाहते थे, जो नहीं कर सके और हम लोगों के लिए किस प्रयोग को अधूरा छोड़ गये? उससे भी आपको कुछ सीखने को मिलेगा। इसके अलावा जो कुछ वे बता गये, उसे पूरा करने का हमने जो कुछ प्रयत्न किया, उससे और कदाचित् उससे भी अधिक, हमारी असफलताओं से आप कुछ सीख सकेंगे। हमने सोचा कि हम इन चीज़ों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकते हैं और उससे कुछ लाभ उठा सकते हैं।

गांधीजी ने अपने सामने समाज के लिए एक रूपरेखा बना रखी थी। वह समझते थे कि तब तक अहिंसा स्थापित नहीं हो सकती और हिंसा एकबारगी छोड़ी नहीं जा सकती जब तक कि वे कारण, जिनसे हिंसा पैदा होती है और जो अहिंसा का प्रयोग कठिन बना देते हैं, दूर न कर दिये जाएँ। हम लोग जानते हैं कि ऐसा क्यों होता है और आपसी झगड़े का कारण क्या होता है। एक आदमी की इच्छा या चाह, दूसरे की इच्छा या चाह से टकराती है और यह इच्छा किसी भौतिक अथवा बाह्य पदार्थ के लिए होती है। जब एक चीज़ को दो आदमी चाहने लगते हैं और वह चीज़ दोनों को एक साथ नहीं मिल पाती, तो वही हिंसा का कारण बन जाती है। यद्यपि सुनने में यह कुछ विरोधाभास मालूम होता है, पर यह सच है कि गांधीजी एक तरफ़ लोगों की ग़रीबी दूर करना अपना एक मौलिक कार्यक्रम समझते थे और दूसरी ओर जहाँ तक हम

समझे हैं, वह कभी बाह्य पदार्थों द्वारा जीवनस्तर को असीमित और अनिश्चित हद तक उठाने के पक्षपाती नहीं थे। यद्यपि वह चाहते थे कि जीवन की सभी ज़रूरी चीज़ें हमें उपलब्ध हों, ताकि उनके बग़ैर हमारा जीवन दुःखी न हो जाए, तथापि वे यह भी चाहते थे कि कोई व्यक्ति किसी तरह से अपनी ज़रूरत से ज्यादा का संग्रह न करे और न इसकी चाह उसे रहे। अनिवार्य आवश्यकताओं को भी व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार निर्धारित न करे, बल्कि उसके निर्धारण में और कई विचार भी हो सकते हैं। एक तो यह कि मनुष्य यह समझे कि जो मेरे लिए ज़रूरी है वह दूसरों के भी ज़रूरी हो सकता है और इसलिए वह सब में बांट दिया जाए। जब तक इस प्रकार का बंटवारा संभव न हो जाए, तब तक उसको समझना चाहिए कि उसको उस चीज़ को अपने लिए भी ज़रूरी समझने का अधिकार नहीं है। इसीलिए महात्माजी मनुष्य की ज़रूरतों पर आवश्यक नियंत्रण रखने पर ज़ोर देते थे। ऐसा समाज हिंसा से बच नहीं सकता, जो अपनी ज़रूरतों पर नियंत्रण न रखकर उनको बढ़ाता जाता है। महात्माजी कहते थे कि अहिंसक समाज के निर्माण के पहले मनुष्य को उस जगह पर आ जाना चाहिए, जहाँ वह अपनी माँगों को सीमित रख सके। इस प्रकार की सीमा किसी व्यक्ति के लिए नहीं, बल्कि उसी ढंग से समाज के लिए होनी चाहिए। वह इस तरह के समाज का निर्माण करना चाहते थे, जिसका मुख्य उद्देश्य ज़रूरतों को बढ़ाना और उनको जल्द से

जल्द पूरा करना न हो, बल्कि सबके लिए आवश्यक वस्तुओं का सुहैय्या करना और ऐसी परिस्थिति ही न पैदा होने देना जिसमें वस्तुओं के लिए होड़ हो। आपस के वैमनस्य को जब हम देखने लगें, तो उससे पहले हमें सोच लेना चाहिए कि यह वैमनस्य किन चीज़ों से शुरू होता है ? मैंने एक वजह बता दी है। और भी बहुत चीजें हैं, जिनके कारण हम आपस में लड़ते हैं। वैमनस्य मतभेद के कारण हो सकता है। वे मतभेद धर्म से संबंध रखते हों, समाज संबंधी आदर्शों से संबंध रखते हों अथवा व्यक्ति के स्वत्वों और कर्तव्यों से संबंध रखते हों। गांधीजी उन सभी कारणों को समाज से हटाना चाहते थे। अपनी भौतिक और बाह्य वस्तुओं की ज़रूरत को कम करके हम झगड़े के एक कारण को दूर कर सकते हैं। इसी तरह यदि हम यह मान लें कि दूसरे के भी वही स्वत्व होने चाहिए, जो हम अपने लिए चाहते हैं और इसे अपना कर्तव्य मान लें कि हमें दूसरों को उन स्वत्वों को भोगने देना चाहिए, तो झगड़े के कुछ और कारण भी दूर हो जाते हैं। वह अहिंसा द्वारा ही हो सकता है। किसी भी समाज में अगर कुछ लोग अपने विचारों को, चाहे वह धर्म से, राजनीति से या मानव जीवन के किसी भी भाग से संबंध रखते हों, अपने विचारों को दूसरों पर लादना चाहें, तो हिंसा होकर हीं रहेगी। जब सब लोगों को विचार की पूरी स्वतन्त्रता निश्चित रूप से दी जाएगी, तभी झगड़ों से बचा जा सकता है। ये चन्द बातें हैं, जिनको गांधीजी इस देश के समाज में दाखिल करना चाहते थे।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वे ऐसे सुधारकों में से नहीं थे, जिन्होंने अपना पूरा कार्यक्रम लिखकर पहले से रख दिया हो, बल्कि जैसे जैसे प्रश्न उनके सामने आते गये, वे उनका हल निकालते गये। सबसे पहले तो इस देश के लिए उनके समान स्वतन्त्रता का प्रश्न था, जिस पर स्वभावत: उनका ध्यान सबसे पहले और अधिक गया था। इस स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उनका विचार पक्का था, साथ ही इसके लिए वे केवल यही नहीं चाहते थे कि हिंसा का प्रयोग कार्य-रूप में न किया जाए, वरन् वह मनसा, वाचा हिंसा को बाहर रखना चाहते थे। इसके साथ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि हालांकि उनका अहिंसा पर अडिग विश्वास था, फिर भी स्वराज्य प्राप्ति में अहिंसा को इतनी दूर तक न माननेवालों का सहयोग भी वे लेना चाहते थे और लिया भी।

उन्होंने अपने चारों ओर सब तरह के लोगों को इकट्ठा कर रखा था। जो उनका साथ न देते, अगर वह मनसा, वाचा भी अहिंसात्मक रहने पर उनसे आग्रह करते। मैं ऐसे बहुत कम लोगों को जानता हूँ, जिन्होंने हिंसा को अपने मानस से भी निकाल दिया हो और ऐसे कुछ लोग तो थे, जिन्होंने शब्द द्वारा हिंसा दिखलायी; पर ऐसे लोगों की संख्या कम थी, जिन्होंने कार्य में हिंसा प्रदर्शित की। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे इस मामले में भाग्यशाली थे कि उनको इस प्रयोग के लिए भारत में अच्छा क्षेत्र मिला, जो इनके योग्य था।

हमारे यहाँ अहिंसा की परम्परा चली आ रही है। यूरोप के हमारे दोस्त मुझे क्षमा करेंगे अगर मैं एक बात कहूँ। मैंने दूसरे देशों का भ्रमण बहुत कम किया है। इसलिए किसी अन्य देश को अधिक जानने का दावा नहीं करता; पर एक बार जब मैं थोड़े दिनों के लिए यूरोप गया था, तब वहाँ प्रत्येक मोहल्ले में घूमते फिरते एक चीज़ देख कर हैरान होता था। वह यह कि वहाँ जो स्मारक देखने में आते थे, वे योद्धाओं के स्मारक अथवा युद्ध और विजय के स्मारक थे। जहाँ जाइए, ये स्मारक हमारी आँखों के सामने आते थे। पर इस तरह की चीज़ आपको यहाँ देखने को नहीं मिलेगी। हमको इस बात का गर्व है कि हमारे लंबे इतिहास में आपको एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा, जब कि हमारे देश ने दूसरे देशों को बल से जीतने का प्रयत्न किया हो। हम लोग विदेशों में गये हैं तो सांस्कृतिक, धार्मिक और ज्ञान के क्षत्र में विजय प्राप्त करने। दुनिया के इतिहास पर जब आप नज़र दौड़ाएँगे, तो देखेंगे कि हमारी इस तरह की विजय किसी देश पर राजनैतिक सत्ता की विजय से अधिक टिकाऊ और लाभदायक साबित हुई है और हमारे ये सांस्कृतिक सबंध उन देशों को हमारे साथ प्रेम के रेशमी धागे में बाँधे हुए हैं। यह जो हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा चली आ रही है, इससे भी महात्माजी के काम में सुविधा हुई। एक और सुविधा भी उन्हें मिली, पर यह कहना कठिन है कि उससे सच्चा लाभ हुआ। हमारे बारे में यह कहा जा सकता है कि हम शस्त्रों द्वारा लड़ाई करने में असमर्थ थे और हममें से

बहुतों ने महात्माजी की पद्धति में ही अपनी कठिनाई का एक हल देखा, क्योंकि उस पद्धति से हम बिना हथियार उठाये स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे। हमने इस सुविधा को संदेहजनक इसलिए बताया है, क्योंकि उसने उस परिमाण में अहिंसा के प्रति हमारी श्रद्धा को कमज़ोर बना दिया। जो हो, हमने उस सिद्धांत को एक हद तक इस्तेमाल किया और हम उसके प्रयोग में सफल भी हुए। पर प्रश्न यह है कि यह पद्धति राष्ट्रों के आपसी संघर्ष और किसी राष्ट्र के भीतरी संघर्षों को हल करने में भी काम दे सकती है? गाँधीजी समझते थे कि उसका प्रयोग अंतर-राष्ट्रीय संघर्षों को मिटाने में भी किया जा सकता है और वह प्रयोग होना चाहिए। ऐसी बात नहीं है कि गांधीजी मानव स्वभाव की कमज़ोरी को नहीं जानते थे, अथवा वे यों ही दुस्साहस करके खतरे उठाना चाहते थे। हमारे देश में कई उदाहरण मिलते हैं, जब उन्होंने आंदोलन को बंद कर दिया, वह भी ऐसे समय में जब आंदोलन चोटी पर था, क्योंकि उन्होंने लोगों की कमज़ोरी समझ ली। जब दूसरा विश्वयुद्ध कुछ दूर तक चल चुका था, तब उन्होंने हिम्मत करके अहिंसा के इसी शस्त्र को संसार के सामने रखने का साहस किया, उसके पहले नहीं।

कई बार गांधीजी को विदेशों से निमंत्रण आये कि वे वहाँ जाकर लोगों को अपना संदेश दें; परन्तु गाँधीजी का सदा यह उत्तर होता था कि मैं जो कुछ कहता हूँ, पहले उसको अपने देश में प्रमाणित कर लूँ, तब मेरा विदेशों में जाने का समय

आएगा। जब तक मैं अपने सिद्धांतों को स्वयं अपने देश में कार्यरूपेण प्रमाणित न कर दूँ, तब तक मुझे क्या अधिकार है कि मैं यह आशा करूँ कि दूसरे देश के लोग मेरी बातें सुनें ?

द्वितीय विश्वयुद्ध में एक ऐसी स्थिति आयी, जो हमारे लिए बहुत ही जटिल थी और मुझे इस बात का भय है कि गांधीजी के निश्चय के संबंध में उसपर बहुत ग़लतफ़हमी फैली। हमारे शासक अर्थात् उस समय की गवर्नमेंट ने उनकी बात समझी नहीं; पर इस बात को तो हम समझ सकते हैं और उसे क्षम्य भी मान सकते हैं; क्योंकि वे लोग जीवन-मरण के युद्ध में फँसे थे और युद्ध से बचने का और कोई रास्ता नहीं जानते थे। वे सोचते थे कि जो कोई भी उनका साथ नहीं देता, वह उनका शत्रु है। चूंकि गांधीजी उनका साथ नहीं देना चाहते थे, इसलिए उन्हें अधिकार था कि वे उनको अपना विरोधी समझें। इस ग़लतफ़हमी का शिकार भारत की अंग्रेज़ी सरकार ही नहीं हुई, बल्कि बहुत-से हमारे देश के वे लोग, जिनका यह दावा था कि गांधीजी के बहुत निकट हैं और जो उनके इर्द-गिर्द रहा करते थे, इस भूल के शिकार हुए थे। लड़ाई आरंभ होने पर जब लार्ड लिनलिथगो से गांधीजी मिले, तो उस ध्वंस-लीला की कल्पना करते ही, जिसकी लपेट में उनका चिरपरिचित लंदन नगर आये बिना नहीं रहेगा, गांधीजी का गला रुंध गया था। यह सब होते हुए भी उनको यह कहने में संकोच नहीं हुआ कि भारत युद्ध में भाग नहीं लेगा और न ही उसे उसमें सहायता करनी चाहिए।

ये दोनों बातें परस्पर विरोधी जान पड़ेंगी, परंतु वास्तव में इनमें कोई ऐसा विरोध नहीं है। इंग्लैंड के लिए उनके दिल में वैसी सहानुभूति थी, जैसी कोई भी मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ उसकी विपत्ति में रखता है और दिखलाता है। साथ ही उनका यह दृढ़ विश्वास था कि किसी भी आधारभूत समस्या का हल युद्ध द्वारा नहीं हो सकेगा और युद्ध संसार को किसी भी वांछनीय स्थान पर नहीं पहुँचाएगा। इसलिए युद्ध-रत लोगों के साथ सहानुभूति रखते हुए गांधीजी अपने मौलिक सिद्धांत को छोड़ने के लिए तैयार न थे। उनके इस रुख में और पहले विश्वयुद्ध के समय के रुख में कितनी विषमता थी! उसमें उन्होंने गवर्नमेंट की मदद की। उस समय सब काम छोड़कर वे स्वयं सिपाहियों की भरती में लगे। उनके बहुत-से शांतिवादी मित्र इस बात से चकित थे और उनकी स्थिति को समझ नहीं सकते थे। उस समय गांधीजी का विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य संसार के कल्याण के लिए है, कम से कम उसके द्वारा भारत का हित तो हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य पर तब उनका विश्वास था। इसलिए उन्होंने सोचा कि ज़रूरत के समय उनकी सहायता करनी चाहिए। वह यह भी मानते थे कि उसके विचार परिवर्तित किये जा सकते हैं और अपने विचारों को छोड़कर वह अपने प्रतिद्वंद्वियों के विचारों को ग्रहण कर सकते हैं। उनको इसका कुछ अनुभव दक्षिण आफ्रिका में हो चुका था और इस देश में जब 1917 में उन्होंने चंपारन में पहला बड़ा आंदोलन आरंभ किया था, तो उस वक्त भी उनको कुछ

ऐसे ही अनुभव हुए थे। इस साम्राज्य पर से अभी तक उनका विश्वास उठा नहीं था और इसलिए वह समझते थे कि अगर उसकी छत्रछाया में वे शान्ति भोग सकते हैं, तो उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उसके संकटकाल में उसे सहायता दें।

1940 में यह स्थिति बिलकुल बदल गयी थी। उनका विश्वास उखड़ चुका था और साम्राज्य के विरुद्ध उन्होंने देश-व्यापी आन्दोलन किया था। यह आन्दोलन ब्रिटिश लोगों के विरुद्ध नहीं, बल्कि उनके द्वारा भारत में जो प्रशासन चल रहा था, उसके विरोध में था और इसलिए 1940 में वे स्पष्ट कर सके कि "हमें आपके द्वारा अपनी प्रतिरक्षा नहीं चाहिए। आप हमारी रक्षा करते हैं या नहीं, हमें इसकी परवाह नहीं। आप जाइए और हमें भगवान या अराजकता के भरोसे छोड़ दीजिए।" इस स्थिति में पहुँच जाने पर उनको यह कहने में संकोच नहीं हुआ कि भारत इस युद्ध में किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। इससे उनमें और कांग्रेस में कुछ मतभेद हो गया। हममें से कुछ लोगों ने महसूस किया कि सौदा पटाने का और सरकार की मदद करके जो कुछ चाहिए था, वह प्राप्त करने का यह अच्छा अवसर है। कुछ लोगों ने उदारता पूर्वक यह समझा कि मित्र-राष्ट्रों की सहायता करनी चाहिए, क्योंकि उनका पक्ष न्यायपूर्ण है। गांधीजी को इन बातों में से कोई बात भी नहीं जंची, क्योंकि उनके मतानुसार युद्ध में सहायता से, न तो अहिंसा के पक्ष को

और न स्वयं उन लोगों को, जो युद्ध में लगे थे, कोई लाभ पहुँचता। इसलिए उन्होंने युद्ध में सहयोग के विरोध का निर्णय किया।

मेरे ख्याल में यह ब्रिटिश सरकार की अदूरदर्शिता थी कि उन्होंने कांग्रेस की सहायता को स्वीकार नहीं किया और इस तरह से एक ऐसा मौक़ा दिया, जिससे कांग्रेस और गांधीजी फिर एकसाथ काम कर सके। कांग्रेस गांधीजी के बताये हुए रास्ते से अलग हो गयी थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार के इनकार ने उन दोनों को फिर एक कर दिया। सरकार को सहायता देकर कांग्रेस जो लेना चाहती थी, जब उसको वह नहीं मिला तो उसने महसूस किया कि युद्ध-प्रयत्नों के बहिष्कार के सिवाय उसके लिए कोई रास्ता नहीं और 1940 में यही कुछ हुआ। 1942 में बड़े पैमाने पर उसकी पुनरावृत्ति हुई।

मैंने कहा है कि शायद हमारी असफलता से कुछ सबक़ मिले। इस बात की ओर मैं आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। उस संबंध में हम नाकामयाब रहे और कांग्रेस ने ऐसा रास्ता सिद्धांततः अपनाया, जो गांधीजी को मान्य नहीं था। वह रास्ता सिद्धांतों, सच्चाई और अहिंसा का नहीं, बल्कि तात्कालिक आवश्यकताओं का था। यदि इसके बाद हम गांधीजी के आदर्शों और कार्यक्रम को पूरी तरह नहीं निभा सके, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? एक बार फिसल जाने पर हम अभी तक यह नहीं समझ पाये हैं कि अहिंसा से काम चल सकता है और किसी भी अवस्था में हिंसा की

आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। उसी समय गांधीजी ने हिटलर को पत्र लिखा था। उन्होंने चैक जनता से अपील की थी कि वह अहिंसा द्वारा जर्मनों का विरोध करे। इसी प्रकार उन्होंने ब्रिटेन के निवासियों से भी अपील की थी कि वह लड़ाई न करके, जो कुछ चाहते हैं उसे अहिंसा द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

दुर्भाग्यवश ठीक ऐसे समय, जब हम अहिंसा-सम्बन्धी परीक्षण करने की स्थिति में हुए, गांधीजी हमसे बिदा हो गये। संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे हो चुके हैं, जिन्होंने अपने जीवन में अहिंसा से ही काम लिया और दूसरों को भी अहिंसा अपनाने की शिक्षा दी। लेकिन जनसमुदायों और राष्ट्रों के बीच मतभेदों को दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर अहिंसा का प्रयोग करने का श्रेय गाँधीजी को ही है।

जैसा कि मैंने कहा, गांधीजी को इस देश में यह परीक्षण करने के लिए अनुकूल वातावरण मिला। मुझे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि हमारे विरोधी भी सज्जन थे, जिनमें अहिंसा की शक्ति को स्वीकार करने की क्षमता थी। उन्होंने निजी कार्यवाहियों के लिए एक मर्यादा निर्धारित कर ली थी, जिसके नीचे अंग्रेज़ लोग नहीं जा सकते थे और न गये। हमें यह मान लेना चाहिए कि गांधीजी की सफलता, बहुत हद तक, केवल उनके निजी व्यक्तित्व और भारतवासियों के कारण नहीं हुई, बल्कि उसका कारण अंग्रेज़ लोग भी थे। मैं नहीं कह सकता और ऐसा सोचना केवल अनुमान लगाना होगा कि यदि

उसके विरोधी सज्जन न होते, जो अपने अत्याचारों की कोई सीमा नहीं मानते और जो अपने शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकते, तो गांधीजी के परीक्षण का क्या फल होता ? हम नहीं कह सकते कि उस अवस्था में गाँधीजी अहिंसा पर अटल रह पाते और ऐसे विरोधी को अहिंसा द्वारा जीत लेते या नहीं। क्या होता, यह सब केवल अनुमान की बात रह गयी है।

अहिंसा का प्रयोग यहाँ अधूरा रहकर ही समाप्त हो गया। अब यह आप लोगों का कर्तव्य है कि इसके कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत करें और देखें कि आज की परिस्थिति में हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं।

मैं जानता हूँ कि यह कठिन काम है; परन्तु इस संबंध में हमें लोगों को शिक्षित करना है। इसलिए गांधीजी ने शिक्षा की अवहेलना नहीं की। (गांधीजी जिस शिक्षा की कल्पना करते थे और जिसके लिए उन्होंने कार्यक्रम बनाया, वह उस शिक्षा से जिसका विदेशों में चलन है कुछ भिन्न थी। बच्चे की प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास, बाह्य निषेधों को हटाकर, जो उसके अन्दर है उसको बाहर लाना, यह गांधीजी के शिक्षा-संबंधी कार्यक्रम का अंग था। उनका उद्देश्य मृतकों के समान सबको एक ही स्तर पर लाना नहीं था। उनकी योजना यह नहीं थी कि जैसे किसी सड़क के छोटे और बड़े पत्थर के टुकड़े होते हैं, पर सभी भारी यंत्र से दबाकर बराबर कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार सभी लोग एक बराबरी में ला

दिये जाएँ। उनकी योजना यह थी कि प्रत्येक बच्चे का अपने ढंग से और अपने ही वातावरण में पूर्ण विकास हो सके। चूँकि हिंसा के लिए उनकी योजना में कोई स्थान नहीं था, इसलिए बच्चों का पालन पोषण पूर्ण अहिंसा के वातावरण में होगा और वे अहिंसा का सच्चा अर्थ समझ पाएँ।

परन्तु आप लोग, जब कभी फिर मिलने का अवसर मिले, इस बात पर विचार करें कि गांधीजी का समाज के संबंध में क्या आदर्श था। इसके जाने बिना शोषण का काम समाप्त नहीं किया जा सकता और अगर शोषण समाप्त नहीं हुआ, तो हिंसा का भी अन्त नहीं हो सकता।

*लार्ड बॉयड आर ने अपने प्रतिवेदन में जो कुछ कहा, वह मैंने बहुत ध्यान और सम्मान से सुना। एक वाक्य उसमें मुझे कुछ विचित्र-सा लगा। आपने यह निश्चय किया है कि आप प्रतिरक्षा के लिए सेना रखना वैध समझते हैं। मैंने ऐसा कोई युद्ध नहीं सुना, जिसे आक्रांताओं ने आक्रमणात्मक माना हो। संसार के इतिहास में प्रत्येक युद्ध प्रतिरक्षात्मक ही घोषित किया गया है। जब तक हम यह छोटा-सा दरवाज़ा खुला रखेंगे, जिसके द्वारा प्रतिरक्षात्मक युद्ध का समावेश हो जाए, तब तक पूर्ण अहिंसा की स्थापना नहीं हो सकेगी। किसी न किसी को साहस से काम लेना पड़ेगा। गाँधीजी ने साहस किया। जहाँ तक हमारे देश का संबंध है, उन्होंने स्पष्ट कह दिया था, "हमें भगवान या अराजकता के भरोसे छोड़ दीजिए।

---

*गांधी-दर्शन परिषद् के अध्यक्ष

हमें लड़ाई में न लपेटिये और आप यह आशा न रखिए कि इस युद्ध में हम आपकी सहायता करेंगे।"

मैं नहीं कह सकता कि यदि हमें रास्ता दिखाने और प्रेरणा देने के लिए गाँधीजी जीवित होते, तो हम क्या करते; परन्तु पिछले युद्ध में दोनों पक्षों से युद्ध के परिहार के लिए अपील करके उन्होंने अपनी स्थिति बिलकुल स्पष्ट कर दी थी। यह सोचना गलत होगा कि किसी भी अवस्था में वे असत्य या अन्याय के आगे झुकने को तैयार थे। ऐसा करना उनकी आत्मा और उनके व्यक्तित्व के प्रतिकूल था। मानव की निम्न प्रवृत्तियों, जैसे घृणा अथवा बदले की भावनाओं के सामने झुकना वह कायरता के सामने झुकना मानते थे। जो दूसरे पर प्रहार किये बिना व्यक्ति अथवा राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता वह भी एक प्रकार से कायरता के सामने झुकता है। वे मानव में ऐसा साहस चाहते थे, जो विरोधी के बुरे से बुरे व्यवहार को, विरोधी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना के बिना, सहने की सामर्थ्य प्रदान करे। ऐसा साहस के बल पर मानव अन्त तक विरोधी का मुकाबला करे और इस प्रयत्न में अपने प्राण भी दे दे, जिसका अर्थ होगा उसकी विजय, क्योंकि विरोधी उसे झुकाने में असफल रहेगा और विरोधी के लिए यह हार होगी, क्योंकि वह उसे झुकाने में अपने को असमर्थ पाएगा। जब तक कोई राष्ट्र इस प्रकार के साहस का प्रश्न नहीं लेता और यह दृढ़ संकल्प करके कि उसे किसी भी अवस्था में प्रतिरक्षात्मक अथवा आक्रमणात्मक किसी भी प्रकार का युद्ध नहीं लड़ना है, कोई

सुनिश्चित युद्ध-विरोधी कार्यक्रम लेकर मैदान में नहीं आता और किसी भी प्रकार की सेना रखना छोड़ नहीं देता, तब तक अहिंसा की लड़ाई जारी रहेगी और विजय आँखों से ओझल रहेगी।

किसी न किसी राष्ट्र को यह साहस दिखाना ही होगा। यह नहीं कह सकते कि वह कौन-सा राष्ट्र होगा। स्पष्ट है कि आज यह काम हम नहीं कर सकते, यद्यपि हम अपने आपको गाँधीजी की विचारधारा और उनके उपदेश का उत्तराधिकारी मानते हैं। फिर भी यह काम किसीको करना ही है। मैं आशा करता हूँ कि इस सम्मेलन में हुए विचार-विमर्श के परिणाम-स्वरूप आप यह संदेश संसार के अन्य देशों तक पहुँचा सकेंगे।

हमारे देश में एक कहावत है कि चारों तरफ़ रोशनी होते हुए भी कभी कभी दिया तले अंधेरा होता है। आशा है, हम इस कहावत को चरितार्थ नहीं करेंगे और आप इसकी सचाई को, दिये के ठीक नीचे न होते हुए भी इससे रोशनी लेकर प्रमाणित कर देंगे। यदि यह गोष्ठी गाँधीजी की विचारधारा को संसार के सामने रख सके, तो यह बहुत बड़ा काम होगा। मैं इस विचारधारा को व्यावहारिक मानता हूँ और यह समझता हूँ कि यदि हममें आवश्यक साहस हो, तो कार्यान्वित किया जा सकता है।

मुसलमान और हिन्दू कवियों में विचार साम्य

सूर्यकाँत त्रिपाठी 'निराला'

सभ्यता के आदिकाल से लेकर आज तक जितनी बड़ी-बड़ी बातें साहित्य के पृष्ठों में लिखी हुई मिलती हैं, उनके बाह्य रूपों में न रहने पर भी वे एक हीं सत्य का प्रकाश देती हैं। आज तक मानवीय सभ्यता जहां कहीं एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती आयी है, वहाँ उसके बाह्य-रूपों में ही वैषम्य रहा है, वेश-भूषणों, आचार-व्यवहारों तथा उच्चारण और भाषाओं का बहिरंग भेद रहा है। उन सभ्यताओं के विकसित रूप देखिए, तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ अटल मिलती है।

हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। इस लेख में हम यही दिखलाने की चेष्टा करेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि जब तक हिन्दू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आवाज़ नहीं लगाएँगे, तब तक यह स्वार्थ-जन्य मैत्री, स्वार्थ में धक्का न लगाने तक की ही मैत्री रहेगी।

"न था कुछ तो ख़ुदा था, कुछ न होता तो ख़ुदा होता;
डुबाया मुझको होने से, न होता मैं तो क्या होता।"

—गालिब

जब कुछ नहीं था, तब खुदा था। यदि कुछ न होता तो खुदा होता। मुझे होने ने (भव ने, संसार ने 'हूँ' इस भाव ने) डुबा दिया। मैं न होता, तो क्या (अच्छा) होता।

महाकवि ग़ालिब के ये भाव हर्फ़-हर्फ़ वेदांत से मिलते हैं। जब कुछ नहीं था, तब खुदा था, यही वेदांत की तथा हिन्दू आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की बुनियाद है। जहाँ ईश्वर की सत्ता है, वहाँ संसार नहीं। इसीपर गोस्वामीजी लिखते हैं—

"जिहि जाने जग जाय हेराई :"

यहाँ दोनों के भाव एक ही हैं। 'होने' ने या 'भव' ने ग़ालिब को डुबा दिया है, अर्थात् दुनिया के ज्ञान ने उन्हें समीम कर दिया है, संसार में डाल रखा है, जिसके लिए वह कहते हैं, यह न होता तो क्या अच्छा होता ! तब केवल खुदा का ही अस्तित्व रहता, जिसके लिए कबीर कहते हैं, जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मोह नहीं रहता—

"सूर-परकास तहँ रैन कहाँ पाइए
रैन-परकास नहिं सूर भासै;
होय अज्ञान तहँ ज्ञान कहँ पाइए,
होय जहँ ज्ञान अज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइए,
होय जहँ प्रेम तहँ काम नाहीं;
कहत कब्बीर यह सत्य सुविचार है
समझ तू, सोच तू, मनहिं माहीं।"

आज तक मनुष्यों के मनों ने जितनी ऊँची उड़ानें भरी हैं, वे सब यहीं आकर ठहरती हैं। अन्यथा लक्ष्य-भ्रष्ट हो गयी हैं। सांसारिक जितने भी चमत्कार हैं, उन सबपर प्रभुता करनेवाली यही भूमि है, और संसार में जितने भी भेद हैं, उन सबमें साम्य स्थापित करनेवाली भी यही भूमि है। बिना यहाँ आये हुए भेद का ज्ञान कदापि दूर नहीं हो सकता। यही हिन्दुओं की अद्वैत-भूमि है। और चूंकि यहाँ भेदभाव नहीं रह जाता इसीलिए इसे अद्वैत कहा भी है।

नज़ीर कहते हैं—

"तनहा न उसे अपने दिले तंग में पहचान;
हर बाग़ में हर दश्त में, हर संग में पहचान।
बेरंग में, बारंग में, नैरंग में पहचान;
मंज़िल में मुक़ामात में, फ़रसंग में पहचान।
नित रूम में, औ हिंद में, औ जंग में पहचान;
हर राह में, हर साथ में, हर संग में पहचान।

* * *

हर आन में, हर बात में, हर ढंग में पहचान;
आशिक है, तो दिलबर को रंग में पहचान।"

यह दुनिया की लावण्यमयी श्री भी है और वहाँ उस प्यारे की खोज भी। यही विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है। यानी दुनिया भी है और खुदा भी। या यों कहिए कि वह खुदा ही दुनिया के अनेक रूपों में विराजमान है। गोस्वामी तुलसीदास की एक उक्ति इसी अर्थ पर बहुत सुन्दर हुई है—

"अव्यक्तमेकमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने,
षट कंध, शाखा पंचविंश, अनेक पर्ण सुमन घने।
फल युगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जिहि आश्रित रहे,
पल्लवित, फूलित, नवल नित संसार-विटप नमामि हे।"

यहाँ राम को ही उन्होंने वे के मुख से संसार-विपट कहकर संबोधित किया है, जिसकी तारीफ़ में संसार की कोई वस्तु छोड़ी भी नहीं, जैसे तमाम संसार में राम ही का रूप भर रहा हो।

एक जगह महाकवि ग़ालिब कहते हैं—

"तेरे सवे क़ामत से एक क़द्दे आदम,
क़यामत के फ़ितने को कम देखते हैं।"

यहाँ महाकवि ग़ालिब क़यामत को एक आदमी-भर लंबी बतलाते हैं, यानी क़यामत उतनी ही बड़ी है, जितना लंबा एक आदमी। यह प्रलय की सर्वोत्तम व्याख्या है। हर एक आदमी में प्रलय की नाशकारी कुल शक्तियाँ हैं, और वह चाहे तो उन्हें प्रत्यक्ष कर सकता है। हर मनुष्य सौर-ब्रह्मांड से मिला हुआ भी उससे अलग है। संसार का अस्तित्व उसके पास सिर्फ़ इसलिए है कि वह अपने अस्तित्व पर विश्वास रखता है। जब मनुष्य सो जाता है, उस समय वह अपना अस्तित्व बहुत कुछ भूल जाता है। यही कारण है कि सुप्ति-काल में संसार का ज्ञान नहीं रहता। संसार के सिर पर जो क़यामत क्रीड़ा कर रही है, उसको प्रत्यक्ष करनेवाला वही है, और उसका

शरीर भी क़यामत के क़ानून के अन्दर है। इसलिए क़यामत को एक ही आदमी के क़द के बराबर कहा, और यह केवल साहित्यिक उपमा ही नहीं, किन्तु दार्शनिक महान सत्य हो गया है।

बिलकुल यही भाव सूरदासजी के हैं, जहां उन्होंने बालक कृष्ण की वर्णना की है—"प्रभु पौढ़े पालने पलोटत" आदि-आदि। यहाँ भी श्रीकृष्ण के हिलने-डुलने से जो क्रिया होती है, वह प्रलय ही है—"बिडरि चले घन प्रलय जानि कै।" कारण, किसी भी चेतन के हिलने से सौर-ब्रह्मांड हिलता-डोलता है, यह सूरदासजी के कहने का मतलब है। श्रीकृष्ण की चेतन-क्रिया में ससार डोल रहा है, कहीं प्रलय हो रहा है, दिग्दंती बड़े धैर्य से धरा-भार को धारण कर रहे हैं। यहाँ भी एक हीं की चेतन-क्रिया से संसार में क़यामत आ रही है, प्रलय मचा हुआ है और इसे समझनेवाले सूरदासजी "संकट पगु पलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं। ग़ालिब और सूरदास की उक्तियाँ बिलकुल मिल जाती हैं। कोई विरोध नहीं देख पड़ता। वहाँ भी एक ही क़द के बराबर क़यामत की नाप होती है, और यहाँ भी एक ही कृष्ण की चेतन-क्रिया से आफ़त उठी हुई है! दोनों महाकवि इस सत्योक्ति में पूर्णतया सहमत हैं—

कुछ ज़ुल्म नहीं कुछ ज़ोर नहीं,
कुछ दाद नहीं, फ़रियाद नहीं;
कुछ क़ैद नहीं, कुछ बंद नहीं,
कुछ जब्र नहीं, आज़ाद नहीं;

शागिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,
वीरान नहीं, आबाद नहीं;
हैं जितनी बातें दुनिया की,
सब भूल गये, कुछ याद नहीं।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा,
जब आशिक मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा।
जिस सिम्त नज़र कर देखे हैं,
उस दिलबर की फुलवारी है;
कहिं सब्ज़ी की हरियाली है,
कहिं फूलों की गुलकारी है।
दिन-रात मगन खुश बैठे हैं,
और आस उसीकी भारी है;
बस, आप ही वह दातारी है
और आप ही यह भंडारी है।
हर आन हँसी हर आन खुशी,
हर वक्त अमीरी है बाबा,
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए,
फिर क्या दिलगीरी है बाबा :
हम चाकर जिसके हुस्न के हैं,
वह दिलवर सबसे आला है;
उसने ही हमको जी बख़्शा,
उसने ही हमको पाला है।

दिल अपना भोला-भाला है,
औ' इश्क़ बड़ा मतवाला है;
क्या कहिए और नजीर आगे,
अब कौन समझनेवाला है।
हर आन हँसी, हर आन खुशी,
हर वक़्त अमीरी है बाबा,
जब आशिक़ मस्त फ़कीर हुए
तब क्या दिलगीरी है बाबा।

—(नज़ीर)

कविवर नज़ीर यहाँ फ़कीरी का हाल बयान कर रहे हैं। यह वह फ़क़ीरी है जब तमाम दुनिया में अपना इष्ट ही इष्ट नज़र आता है। संसार की हर वस्तु में उसीका रंग चढ़ा देख पड़ता है। प्रह्लाद के चरित्र-लेखक दिखलाते हैं कि शेर आता है, तो उससे भी प्रह्लाद "हरि-आये" कहकर लिपट जाते हैं। नरसीजी भूत देखते हैं, तो "आये मेरे लंबकनाथ" कहकर गाने और प्रेम-विह्वल होकर नाचने लगते हैं। एक सिद्ध श्वान पर बैठा हुआ भोजन कर रहा था, और कभी-कभी अपना अन्न उस कुत्ते को भी खिला दिया करता था। दूर से कुछ लोगों ने यह तमाशा देखा। उसके पास गये। कहने लगे—"तुम कुत्ते की जूठन खाते हो, कैसे आदमी हो!" वह सिद्ध बड़ी देर तक चुप रहा। तब भी इन लोगों ने अपना व्याख्यान बंद नहीं किया। तब चिढ़कर वह सिद्ध कहता है—

विष्णूपरि स्थितो विष्णुः विष्णुं खादति विष्णवे।
कथं हससि रे विष्णो सर्वं वष्णुमयं जगत्॥

सूरदासजी इन्हीं भावों पर कहते हैं :—

जित देखो तित श्याममयी है;
श्याम कुंज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन, घन-घटा छई है।
श्रुति को अच्छर श्याम देखियत,
दीप-शिखा पर श्यामतई है;
मैं बौरी की लोगन ही की
श्याम पुतरिया बदल गई है।
इन्द्र-धनुष को रंग श्याम है,
मृग-मद श्याम, काम बिजयी है;
नीलकंठ को कंठ श्याम है,
मनो श्यामता बेलि बई है।

कवि के भाव-नेत्र चारों तरफ़ श्याम को ही प्रत्यक्ष करते हैं। तमाम संसार में वह एक ही श्याम-छवि रमी हुई है। रामायण में गोस्वामी तुलसीदासजी इस भाव की सुन्दर व्याख्या-सी कर देते हैं। जिस कारण से यह इष्ट-मूर्ति भक्त को चारों ओर दिखलाई पड़ती है, उस कारण की जड़ चित्त में है, जहाँ इष्ट की छाप पड़ जाने पर, फिर और कोई रूप नहीं देख पड़ता, दूसरे रूपों की सत्ता छिप जाती है।

चित्रकूट-चित चारु, तुलसी सुभग सनेह बन,
सिय-रघुबीर-विहारु सींचत माली नयन-जल।

मृत्यु की नश्वरता को दिखलाते हुए कविवर नज़ीर कहते हैं—

"जब चलते-चलते रस्ते में,
यह गौन तेरी ढल जावेगी,
यह बधिया तेरी मिट्टी पर
फिर घास न चरने पावेगी।
यह खेप जो तूने लादी है,
सब हिस्सों में बट जावेगी;
धी, पूत, जमाई, बेटा क्या,
बनजारन पास न आवेगी।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा
जब लाद चलेगा बंजारा।
क्या जी पर बोझ उठाता है,
इन गोनों भारी-भारी के;
जब मौत का डेरा आन पड़ा
तब दोनों हैं व्यापारी के।
क्या साज़ जड़ाऊ ज़र-ज़ेवर,
क्या गोटे थान किनारी के,
क्या घोड़े, ज़ीन सुनहरी के,
क्या हाथी लाल अमारी के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा
जब लाद चलेगा बंजारा।
मग़रूर न हो तलवारों पर,
मत भूल भरोसे ढालों के;

सब पट्टा तोड़ के भागेंगे
मुंह देख अजल के भालों के,
क्या डिब्बे मोती-हीरों के।
क्या ढेर ख़ज़ाने मालों के।
क्या बकचे ताश मुश्ज्जर के,
क्या तख़्ते शाल-दुशालों के।
सब ठाट पड़ा रह जावेगा,
जब लाद चलेगा बंजारा।

नश्वर संसार का जो चित्र यहां विवेक को जाग्रत करने के लिए नज़ीर साहब ने खींचा है, उसका प्रभाव हिन्दू-कवियों पर पहले ही से बहुत ज्यादा रहा। नश्वरता पर प्राय: यहाँ के सभी कवियों ने कविताएँ लिखी हैं। भगवान शंकराचार्य आदि धर्म-प्रचारकों से लेकर आधुनिक कवियों तक में यह भाव यहाँ परिपुष्ट ही मिलता है।

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम्।
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननी जठरे शयनम्;
इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः,
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुंचत्याशामर्षम् ।

—श्री शंकराचार्य

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उनसे हारी होड़ लगाई ।

—श्री जयशंकर प्रसाद

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरंतर,
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्ष-स्थल पर,
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे नित घनाकार जगती का अंबर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र--कुण्डल दिङ्-मंडल ।
अये दुर्जेय विश्वजित !
नवाते शत सुरवर नरनाथ,
तुम्हारे इन्द्रासन-तल माथ ।
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ
सतत रथ के चक्रों के साथ ।

—श्री सुमित्रानन्दन पंत

नश्वरता को प्रत्यक्ष करा देने पर ज़रा देर के लिए मन में वैराग्य का उदय होता है। फिर वह वैराग्य यदि स्थायी हो, तो मनुष्य संसार की नश्वर वस्तुओं से प्रेम करना छोड़कर एक ऐसी ज्ञान-स्थिति प्राप्त करता है, जिससे उसे यथार्थ शांति मिलती है। जिस तरह हिन्दुओं में वैराग्य की यह शिक्षा मिलती है, उसी तरह मुसलमानों में भी। सूफ़ीवाद में तो ज्ञान, वैराग्य और मादकता, तीनों की प्रधानता है। मुसलमानों के दर्शन में तो नहीं, हाँ: कुरान के साथ अद्वैतवाद की सूक्तियाँ ज़रूर मिल जाती हैं। पर कविता में और सूफ़ियाने ढंग की कविता में यहाँ के बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र का तो बिलकुल जोड़ मिल जाता है। खान-पान और रहन-सहन का भेद रहने पर भी जिस विकास की ओर मुसलमान-सभ्यता गयी है, वह यहाँ से कोई पृथक सत्ता नहीं। कुरान का असल तत्व जो—**ला इलाह इल्लिल्लाह**—है वह—**"एकमेवाद्वितीयम्"**—का अक्षर-अक्षर अनुवाद है। हम यह नहीं कहते कि कुरान की उक्ति अनुवाद के रूप में आयी है, क्योंकि हमें मालूम है, ईश्वर को प्रत्यक्ष करनेवाले महापुरुष एक ही सत्य का प्रचार करते हैं; और जिस तरह हिन्दुओं के महापुरुषों ने ओत-प्रोत एक ही ज्ञानमय कोष का तत्व हासिल किया, उसी तरह मुहम्मद ने भी तपस्या द्वारा उस "अवाङ्मनसो-गोचरम्" सत्य का साक्षात्कार किया। सिन्धु और बिन्दु की उक्ति ब्रह्म और जीव की जो बातें भारतीय साहित्य में मिलती हैं, वही मुसलमान-कवियों की कविता में दरिया और क़तरे के रूप से आयी हैं।

तुमहिं मिलत नाहिं होय भय, यथा सिंधुगत नीर।

—तुलसीदास

इशरते-क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।

—ग़ालिब

यक क़तरए में जब से साक़ी ने मिलाया है;
उस रोज़ से हर क़तरा दरिया नज़र आता है।

खुदनुमाई पर की गयी वह गुफ़्तुगू याद आती है, जो अपनी बांदी के साथ शायद बेगम नूरजहाँ ने की थी, जब उसका चीनी आईना बांदी के हाथ से गिरकर फूट गया था, और एकाएक महर्षि वाल्मीकि की तरह बांदी के मुंह से यह शेर का एक टुकड़ा निकल पड़ा था—

अज़ कज़ा आइनए चीनी शिकस्त
खूब शुद[1] सामाने खुदबीनी[2] शिकस्त।—

यह मेहरुन्निसा का उत्तर था। तमाम हिन्दुस्तान की साम्राज्ञी के हृदय में भी वैराग्य की यह भावना प्रबल थी—वह शिक्षा जो गोस्वामी तुलसीदास जैसे महापुरुष ही दे सकते हैं—

सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं;
जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।

एक तरफ़ श्रीरामचंद्र की सेवा लक्ष्मण और सीताजी धर्म भावना से प्रेरित होकर करते हैं, जैसे अपने परम इष्ट की सेवा की जाए, दूसरी तरफ़ महाकवि शिक्षा से भरी हुई उसकी

---

[1]गया-बीता; [2]घमंडी

उपमा में कहते हैं, जैसे अविवेकी पुरुष अपने शरीर की सेवा करते हैं—उसे किसी क्षण के लिए भी नश्वर नहीं समझते। यहाँ शरीर-ज्ञान में बंधे हुए मनुष्य, सदा ही नश्वरता के ग्रास में पड़े रहते हैं, यह भावना भी उद्दीप्त होती है और आलंकारिक व्यंजना श्रीरामचंद्र की तल्लीन सेवा का बोध भी अच्छी तरह करा देती है—एक ढेले में दो पक्षियों का शिकार हो गया है।

तुम मेरे पास होते हो गोया,
जब कोई दूसरा नहीं होता।

—ग़ालिब

यह बहुत ऊँचे दर्जे का प्यार है। सच्चा प्यार भी यही है। लोग इसका अर्थ यह भले ही करें कि निर्जन रहने पर ही प्रिय की याद आती है—दिल के आईने में उसकी सूरत देख पड़ती है; पर इसका मतलब वह नहीं। यह सांसारिक प्रेम नहीं, ईश्वर-प्रेम है। जब मन बिलकुल निस्संग हो जाता है, किसी भी दूसरे से लगावट नहीं रहती, तभी उस मन में ईश्वर का ध्यान आता है, वह भगवत-संग प्राप्त करता है, वह मित्र जिसके लिए कहा है—"राम प्राण के जीवन जी के"—मिलती है, साथ रहता है; इसी क्षण को इष्टप्राप्ति का समय कहते हैं, और इसी अवस्था में वह मिलता भी है। कविवर मैथिलीशरण कहते हैं—

प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं,
जब इस जनाकीर्ण जगती में एकाकी रह जाते हैं।

ज़ौक़ के एक शेर में परलोक, यहाँ तक कि अर्थ लगाने पर हिन्दुओं के पितृलोक, देवलोक, प्रेतलोक आदि की सिद्धि भी हो जाती है—

अब तो घबराके यह कहते हैं कि मर जाएंगे।
मर के भी चैन न पाया, तो किधर जाएंगे।

—ज़ौक़

मृत्यु के बाद चैन न पाने की उक्ति परोक्ष रीति से उसी प्रेतयोनि को सिद्धकर रही है, जहाँ जीवों को शांति नहीं मिलती, एक प्रकार की जलन, क्षोभ, अशाँति तथा चंचलता बनी रहती हैं। इसके अर्थ से प्रेतलोक की सिद्धि कोई भले ही न करे, पर इतना तो ज़ाहिर ही है कि मृत्यु के बाद अशाँति की चिन्ता कवि को लगी हुई है। वह इसपर विश्वास भी करता है। दूसरे, महाकवि ग़ालिब को भी ज़ौक़ का यह शेर पसन्द आता है। इसके मानी ये हैं कि इस तत्व पर वह भी विश्वास करते हैं। बहिश्त और दोज़ख तो मुसलमानों के शास्त्र मानते ही हैं, जहाँ हिन्दुओं का बिलकुल साम्य है। यह बेचैन की हालत, जो मृत्यु के बाद होती है और उस मृत्यु के बाद जिसे आत्महत्या कहते हैं—"मर जाएँगे" के अर्थ सें असमय मृत्यु या आत्महत्या का ही भाव व्यंजित है—बहुत कुछ उसी अवस्था की वर्णना है, जो प्रेतयोनि में होती है। यहाँ हिन्दू और मुसलमान मृत्यु के बाद के एक ही विचार रखते हुए देख पड़ते हैं। यों तो प्रेत या जिन्न मुसलमानों के यहाँ भी कम नहीं—

"जिन्नों ने वहीं अपना मैखाना बना डाला ।।"—और रात बारह बजे शहर-भर की मिठाई ख़रीद लेनेवाले लखनऊ के जिन्न अब भी देहात में काफी मशहूर हैं, वे आजकल की व्याख्या के अनुसार मुँह ढककर आनेवाले छज्जे पर बैठनेवालियों के यार और आशिक़ भले ही हों, अथवा चाहे लखनऊ की प्राचीन व्याख्या के अनुसार 12 लाख साफ़ करने के बाद रईसों के शोहदा-खाते में नाम लिखानेवाले हों।

हिन्दी में तो—

भूत-पिशाच निकट नहिं आवे
महावीर जब नाम सुनावे ।।····· से लेकर
साबर-मंत्र-जाल जिन सिरजा, प्रेत, पितर, गंधर्व;
बंदौं किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ।। तक, पता नहीं, इस परलोकवाद की कितनी चर्चा हुई है, और समाज में इसपर कितना दृढ़ विश्वास है—जब कि ज्ञान की जननी गीता स्वयं कहती है—"पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रिया:" और केशवदास का प्रेत होना तमाम साहित्यिकों के दिमाग़ में भरा ही हुआ है, उधर गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी से "बसै तहाँ इक प्रेत पुरानो" जबकि अभी तक नहीं निकाला गया, और उन्हें भगवान श्रीरामचन्द्र से मिलने का पता भी बताता है प्रेत !

जहाँ में हाली किसी का अपने सिवा भरोसा न कीजिएगा
यह भेद है अपनी ज़िन्दगी का कि इसकी चर्चा न कीजिएगा।

हाली साहब जिस तरह यहाँ हर एक को अपनी ही सत्ता पर ज़ोर देने के लिए कहते हैं और इसे ही वह दुनिया में कामयाब होने की कुंजी समझते हैं, इसी तरह यहाँ के हिन्दुओं की भी भिक्षा है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः, न मेधया न च बहुना श्रुतेन" में सबसे कठिन कार्य आत्म-प्राप्ति के लिए जिस तरह मनुष्य को अभ्यंतर-बल प्राप्त करने के उपदेश दिये गये हैं, उसी तरह अन्य सफलताओं के लिए भी। यथार्थ बल अपने ही भीतर से प्राप्त होता है, जिससे कुल सिद्धियाँ हासिल होती हैं, यही यहाँ की शिक्षा है। इस प्रकार मन को प्रबल करने के लिए ही कहा है—

मन के हारे हारिए, मन के जीते जीत
परब्रह्म को पाइए, मन ही की परतीत।

यहाँ के साहित्य में अपनी ही आत्मा पर विश्वास रखने के केवल उपदेश ही नहीं, किन्तु जीवनियाँ भी अनेक लिखी हुई हैं। इस कोटि में स्त्री और पुरुष, दोनों को बराबर जगह मिलती है। पार्वती तपस्या में दृढ़निष्ठ है। वह महादेव को पति-रूप से प्राप्त करना चाहती है। उनकी तपस्या की परीक्षा करने, उनके मनोबल को तोलने के इरादे से ऋषि उनसे कहते हैं— "तुम क्यों व्यर्थ ही शिव जैसे, एक पागल के पीछे पड़ी हो? इससे तो अच्छा है कि विष्णु की कामना करो। वह सुन्दर है, और सब तरह से महादेव से श्रेष्ठ है।" यह सुनकर पार्वती का उत्तर नम्र होकर भी दृढ़ होता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहती है; कहती है—

सत्य-सत्य शिव अशिव घर, विष्णु सकल-गुण-धाम;
जाको मन रम जाहि संग, ताहि ताहि-सन काम

उद्धव को अपने ज्ञान का गर्व है। श्रीकृष्ण उनका यह अहंकार तोड़ना चाहते हैं। साथ ही एक दूसरे मन का बल भी उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस विचार से वह उद्धव को गोपियों के पास अखिल व्यापक निरंजन ब्रह्म का उपदेश करने के लिए भेजते हैं। उद्धव गोपियों के बीच में व्यापक ब्रह्म की कथा सुनाते हैं, और गोपियाँ बार-बार उनसे श्रीकृष्ण का कुशल तथा अन्यान्य संवाद पूछती हैं, बार-बार उद्धव को उनके विषय से अलग कर देती हैं। पर वह भी अपने ज्ञान-हठ पर अड़े रहते हैं। वह भी बार-बार वैराग्य की वाणी के प्रभाव से उनका प्रेम-जन्य मोह दूर कर देना चाहते हैं। पर गोपियों का प्रेम शरीर-प्रेम नहीं था। उनमें कृष्ण की चेतन सत्ता थी, जिससे उनके हृदय का मोहांधकार दूर हो चुका था। वे प्रेम ही की वाणी में जो उत्तर देती हैं, उसका फिर प्रत्युत्तर उन्हें उद्धव से नहीं मिलता—

ऊधो, मन न होहिं दस-बीस।
एक रह्यो सो गयो स्याम संग,
काह करब अज, ईस ?

और "राधे-दृग-सलिल-प्रवाह में सुनौ हो ऊधौ, रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी" आदि सुनकर प्रेम के प्रभाव से उद्धव मौन ही रह जाते हैं। यह यहाँ का मानसिक बल है; अपना अटल विश्वास जिससे अपने संपूर्ण कार्य सार्थक हो जाते हैं, यही

एकाग्रता-शक्ति है। यथार्थ में और यथार्थ वह (ईश्वर) एक ही है अतः अपने पर यथार्थ विश्वास और उसपर अकृत्रिम विश्वास एक ही है।

जन्म कोटि शत रगर हमारी;
बरौं शंभु, न तु रहौं कुमारी—

यह अपनी शक्ति पर विश्वास है, और

नट मरकट-इव सबहिं नचावत।
राम खगेस, वेद अस गावत।

वह ईश्वर पर किया गया विश्वास है। यहाँ ईश की ही शक्ति सफल-काम है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक आचार-व्यवहार और वेश-भूषण आदि निस्संदेह एक दूसरे से नहीं मिलते, परन्तु यह कोई बहुत बड़ा भेद नहीं। कारण, मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है, और वहाँ ये दोनों जातियाँ एक ही पथ की पथिक तथा एक ही लक्ष्य पर पहुँची हुई जान पड़ती हैं। हिन्दू-सभ्यता बहुत पुरानी है, और मुसलमान-सभ्यता हिन्दुओं के मुक़ाबले बहुत आधुनिक। यह तो हम दावे के साथ कहेंगे कि जहाँ भी सभ्यता ने अपने उत्कर्ष के प्रति संसार को आकृष्ट करना चाहा है, जहाँ कहीं उसकी सुप्त अपार शक्ति जाग्रत हुई है, वहीं, किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष या प्रकृति की अपार शक्तियों की तरह परोक्ष रीति से, हिन्दू-सभ्यता के बीज संचालित हो गये हैं। आज संसार में जितने भी धार्मिक विचार अपना आधिपत्य जमाये

हुए हैं, वे सब हिन्दुओं के किए हुए विचारों के अनुवाद-से प्रतीत होते हैं। हमारा विचार है कि यह हिन्दुओं की ही मानसिक दुर्बलता है, जिसके कारण वे हर तरह से पराधीन ही रहे हैं। यदि वे अपने आपको पहचानें, तो उनके भीतर के भेद भाव तो दूर हों ही, किन्तु संसार में एक अद्भुत साम्य का प्रचार भी हो, जिसकी अब तक संसार के लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं। जहाँ प्रतिद्वंद्विता के भाव प्रबल हैं, वहाँ मानवीय शक्ति भी नहीं, पशु-शक्ति काम करती है, चाहे कितने ही बड़े-बड़े शब्दों तथा वाक्यों की आवृत्ति वहाँ की जाए। मानवीय प्राथमिक शक्ति का विकास ही कार्य की शक्ति है। धर्म के अनुकूल चलकर शक्ति को विकसित करना, यही शास्त्रीय शिक्षा है। पर आज इसके प्रमाण बहुत ही कम रह गये हैं। पाशविक वृत्तियों की प्रबलता मानवीय वृत्ति को, जिसे वृत्ति कहते हैं, दबाये हुए हैं। युग-धर्म ही कुछ ऐसा बन रहा है कि वृत्ति-मूलक बातें अत्यन्त रुचिकर मालूम देती हैं, यद्यपि उनसे पतन के सिवा एक इंच भी उत्थान की गुंजाइश नहीं। यही कारण है कि समाज के विवेक की तुला टूट गयी है। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे सब मनुष्य, सब संप्रदाय अंधानुसरण को ही सनातनधर्म या अपना सच्चा मज़हब समझ रहे हैं। उधर विज्ञान के प्रकाश ने वहाँ के मनुष्यों के हृदय से यह विश्वास ही दूर कर दिया है कि ईसा को भजोगे, तो डूबते वक्त पानी में आप ही ज़मीन बन जाएगी। वहाँ नास्तिकता का राज्य है, यहाँ अंधानुकरण का। संसार की अशांति इस तरह कब दूर

हो सकती है ? रेल, मोटर, तार, जहाज़, मशीन गन, एरोप्लेन, टारपेडो, मेन ऑफ वार और तीस मील की चाँदमारी करनेवाली तोपें, बम, तरह-तरह की विषैली बारूदें, हज़ारहा मशीनें, ये सब अभाव ही की आग भड़कनेवाले हैं; इनसे कुछ मनुष्यता की प्राप्ति नहीं होती। योरप में जो दो चार मनीषी मनुष्यता के तत्व को समझकर उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं, उन्हें वहाँ की गवर्नमेंट से तिरस्कार ही मिलता रहता है। प्रभुता स्वयं अनिष्टकर है. इसलिए विभूतिपाद के आचार्यगण मनुष्यता के दायरे से सदा ही निकाले हुए रहे हैं। मनुष्यता किसी क़ीमत से नहीं मिलती। वह तो एक प्रकार की शिक्षा है, जिसपर अभ्यास दृढ़ हो जाने पर मनुष्य मनुष्य कहलाता है। भारत की राष्ट्रोन्नति के लिए जो अनेक प्रकार की चर्चाएँ सुनने में आती हैं, उनसे प्रतीत होता है कि यहाँ लोगों की आँखों में योरप का ही चश्मा लगा हुआ होता है, और वे बेचारे झूठ बोलकर ज़िन्दगी की ज़िन्दगी पार कर देनेवाले भारतवर्ष के वकील-लीडर यह क्या जानें कि यहाँ की शिक्षा किस रंग की चिड़िया थी ? भारतवर्ष में जो सबसे बड़ी दुर्बलता है, वह शिक्षा की है। हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध के भाव दूर करने के लिए चाहिए कि दोनों को, दोनों के उत्कर्ष का पूर्ण रीति से ज्ञान कराया जाए। परस्पर के सामाजिक व्यवहारों में दोनों शरीक हों, दोनों एक दूसरे की सभ्यता को पढ़ें और सीखें। फिर जिस तरह भाषा में मुसलमानों के चिन्ह रह गये हैं, और उन्हें अपना कहते हुए अब किसी भी हिन्दू को

संकोच नहीं होता, उसी तरह मुसलमानों को भी आगे चलकर एक ही ज्ञान से प्रसूत समझकर अपने ही शरीर का एक अंग कहते हुए हिन्दुओं को संकोच न होगा। इसके बिना, दृढ़ बंधुत्व के बिना, दोनों की गुलामी के पाश कट नहीं सकते।

हिन्दुओं की जो मानसिक स्थिति पहले थी, वह मुसलमानों के आक्रमण-काल तक नहीं थी। पँच-देवताओं की उपासना में पड़े हुए हिन्दू द्वैतवादी हो रहे थे; यों तो भारतबर्ष की धार्मिक स्थिति भगवान बुद्ध से पहले ही बिगड़ गयी थी। बुद्ध के आने के बाद कुछ सुधरी, और यही कारण है कि बुद्धकाल में कला के विस्तार के साथ ही साथ भारत की शासन-शृंखला भी सुदृढ़ हो गयी थी। भगवान शंकर के आविर्भाव के पश्चात् भी भारतवर्ष की कुछ अच्छी अवस्था थी। पर देश सब तरह से मानसिक दृष्टि से दुर्बल हो रहा था। वह शंकराचार्य द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद की धारणा करने में समर्थ नहीं रहा। उसे एक ऐसे धर्म की ज़रूरत पड़ी, जो सरस हो, और गृहस्थों के सामने त्याग का महान आदर्श न रख उन्हें कोई प्रेम तथा पूजा का मार्ग बतलाए। मनुष्यों के मन के अनुकूल धर्म का भी उद्भव हो जाता है। भगवान रामानुज ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। इसमें ईश्वर और संसार दोनों रहे, अद्वैत की सूक्ष्म छान-बीन नहीं रहीं। किन्तु रस से भरा हुआ एक दूसरा ही प्रेम-धर्म लोगों के सामने आया। चूँकि साधारण मनुष्य जन्म से ही मूर्ति-प्रेमी भी हुआ करता है, और संसार के अस्तित्व पर विश्वास

रखता है, इसलिए यह विशिष्टाद्वैतवाद उस समय के लोगों को बहुत पसन्द आया। भारतवर्ष में आज भी अधिकांश मनुष्य इसी संप्रदाय की शाखा-प्रशाखाओं में शामिल हैं। परन्तु मूर्ति स्वय समीप होती है, इसलिए उसके उपासक भी, समीप होने के कारण, भाव तथा क्रिया की भूमि में छोटे ही होते गये। महाभारत के समय से लेकर कई बार महापुरुषों ने भारतवर्ष को गिरने से रोकने की चेष्टाएँ कीं; पर स्वाभाविक गति में कोई रुकावट हो नहीं सकती। जिस हद तक इस देश को गिरकर पहुँचना था, उस अवश्यंभावी परिणाम को कौन रोकता ? वह गिरता ही गया। उधर दीन-ए-इसलाम की नयी रोशनी अद्वैतवाद से भरी हुई फैली। उसका वह नवीन वेग कोई भी देश नहीं रोक सका। भारत भी जिस मानसिक अवस्था को प्राप्त था, उसके लिए हारना स्वाभाविक ही था। वह हारा। किसी भी बृहत् तथा व्यापक वस्तु या धर्म से कोई भी समीप वस्तु या धर्म हार जाता है। ससीम हो रहने के कारण भारत की शक्ति भी खंडशः हो रही थी। मुसलमानों की संगठित तलवारों की चोट से भारत का स्वाधीन दंभ चूर-चूर हो गया।

हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का यह प्रथम संबंध हुआ, जेता और विजित भावों से। वे शासन भी करने लगे। उस समय के संगठित मुट्ठी-भर मुसलमान किस तरह आतंक की तरह तमाम भारतवर्ष में फैल गये, यह पढ़कर आश्चर्य होता है। उनकी दक्षता, उनकी कार्य-पटुता के प्रभाव से

राजपूत-शक्ति ने भी उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जहाँ देखिये, जिस प्रांत में देखिये, मुसलमानों का शासनाधिकार हो गया। पठानों के बाद मुगल आये। ऐयाशी में पड़कर पठान दुर्बल हुए और उसी ऐयाशी ने मुग़ल-बादशाहत को बरबाद कर दिया। खैर, मुसलमानों के वे भाव, जो पहले से हिन्दुओं के प्रति थे, अब भी ज्यों के त्यों ही रह गये और यह स्वाभाविक भी है। इस समय कुछ को छोड़कर प्रायः सभी हिन्दू क्षुद्रतम सीमा में बंधे हुए हैं। यही कारण है कि देश शताब्दियों के लिए पिछड़ा हुआ नज़र आ रहा है। मुसलमान भी अब वे मुसलमान नहीं रहे। एक प्रकार की कट्टरता मूर्खता से मिली हुई रह गयी है। इन दोनों जातियों के सुधार के लिए मनुष्यता की शिक्षा आवश्यक है, जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर-भाव धारण करें। तब तक योरप का वर्तमान धर्म अवश्य ही नष्ट होगा। वहाँ विज्ञान की चर्चा से जिस नास्तिकता का उदय हुआ है, उससे सुफल के ही होने की संभावना है। चरम नास्तिकता और चरम आस्तिकता एक ही बात है। शून्य को चाहे कुछ नहीं कह लीजिए या सब कुछ। वह पूर्ण भी है और कुछ भी नहीं। यही आस्तिक और नास्तिकवाद का रहस्य है। यही कपिल, बुद्ध और नास्तिक दर्शन कहते हैं; और यही वेदान्त, गीता और पातंजल आदि आस्तिक दर्शन। यही सबसे ऊँची भूमि है। यहीं हिन्दू और मुसलमान परस्पर मिलते हैं। योरप के भौतिक विज्ञानवाद को और एक सीढी चढ़ना है, बस। सब फैसला

वही प्रकृति कर देगी, जिसने इतना सब चमत्कार पैदा किया है। फिर ये सब "यथा पूर्वमकल्पयत्" ही रहेंगे। अन्यथा मनुष्य की जीवन-प्रगति रुकेगी। मशीन के पहिये जितना तेज चलते हैं, आदमी की चाल उतनी ही द्रुत बंद होती है। इसपर बहुत कुछ लिखा-पढी हो चुकी है, और होती जा रही है। यही कारण है कि महात्माजी का चर्खावाद यहाँ की अपेक्षा योरप के किसानों को अधिक पसन्द आया है; वे अपने जीवन को अन्न-वस्त्रोत्पादन के पश्चात् शुभचिन्तन में लगाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं। जब तक अनेक प्रकार के वितंडवाद भारतवर्ष में चक्कर काट रहे हैं, तब तक यदि हिन्दू और मुसलमान अपनी-अपनी यथार्थ प्राचीन शिक्षा को प्राप्त कर, दबाने या दबनेवाले अपर भावों को त्यागकर, आपस में मैत्री स्थापित करके एक दूसरे के उत्कर्ष को समझने की चेष्टा करें, तो दोनों के लिए उन्नति का रुका हुआ रास्ता निस्संदेह खुल जाएगा।

भारतीय दर्शनों की रूपरेखा

गुलाब राय

दर्शन नाम की सार्थकता—दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान सत्ताओं को देखने में विशिष्ट हो गया है, जैसे चन्द्र दर्शन, देव दर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थों का ही नहीं होता है, वरन् अमूर्त पदार्थों का भी होता है। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है—'आत्मा वा पर द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' दर्शन द्वारा परम द्वैत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किये जाते हैं। हमारे वाताम्बुपर्णाहारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में, जिनकी महिमा रविबाबू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिखकर गायी है, 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न भिन्न झरोखों में से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु देवताओं की-सी झांकी का-सा महत्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टिकोण को अन्य देशों के दृष्टिकोण से पृथक कर देता है। अंग्रेज़ी में दर्शन का पर्यायवाची शब्द है Philosophy. उसका शाब्दिक अर्थ होता है 'ज्ञान का प्रेम'। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी, दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता, वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है। इसलिए उपनिषदों में आत्मज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन बतलाये हैं।

यही हमारे यहाँ के दर्शनों की विशेषता है कि वे केवल बुद्धि का विकास नहीं, वरन् साधन के विषय हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रतिभा ज्ञान (Intuition) को माना है। वह बौद्धिक ज्ञान से ऊँचा है, किन्तु उसमें योग का साक्षात्कार नहीं है। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह 'घृताधारं पात्रं व पात्राधारं घृतम्' की-सी केवल कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने उसको अमरत्व प्राप्ति का साधन माना है। भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। वह अपने पुरुषार्थ की इति-कर्तव्यता इस दृश्य जगत के क्षणभंगुर वैभव की उपलब्धि में नहीं समझता है।

हमारे यहाँ धर्म और दर्शन उद्देश्य एक ही रहा है। वह है सांसारिक अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति। किन्तु धर्म का अर्थ सांप्रदायिकता नहीं रहा है, 'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः', यह वैशेषिक जैसे भौतिक दृष्टिकोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है, हमारे सांसारिक अभ्युदय की नितांत उपेक्षा नहीं की गयी है, किन्तु वह जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं रहा है।

संख्या और क्रम—भारतीय दर्शनों की संख्या निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि दर्शनशास्त्र का विषय व्यापक है। यह सभी विद्याओं का प्रदीप है। सबका इससे संबंध है और सभी अंतिम तत्व इसके प्रकाशन के मुखापेक्षी रहते हैं। इसलिए तो हमारे यहाँ पाणिनि और रसेश्वर दर्शनों के नाम से व्याकरण और आयुर्वेद के भी दर्शनों को स्थान मिला है। सर्वदर्शनकार ने सोलह दर्शन माने हैं।

साधारणतया हम दर्शनों के दो विभाग कर सकते हैं—वैदिक और अवैदिक। इन्हींको हमारे यहाँ आस्तिक और नास्तिक दर्शन कहा गया है। हमारे यहाँ वेदों की प्रतिष्ठा ईश्वर से भी अधिक है। वेद की प्रतिष्ठा ज्ञान का सम्मान है। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। सांख्य दर्शन ईश्वर की उपेक्षा करके भी आस्तिक है, क्योंकि वह वेदों को शब्द प्रमाण मानता है। आस्तिक दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमाँसा और उत्तर मीमांसा (वेदांत)। चार्वाक, जैन और बुद्ध दर्शन नास्तिक दर्शनों में प्रमुख हैं। हमारे यहाँ के दार्शनिक सदा देश और काल के परे जाने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिए उन्होंने काल की परवाह भी नहीं की। भारत के अन्य वाङ्मय की भांति दार्शनिक साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करना कठिन है। भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धांत उपनिषद काल में बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे, किंतु उनका नामकरण और उनको सूत्र-बद्ध रूप में लाना पीछे से हुआ है। हम केवल यही कह सकते हैं कि पहले वेद, फिर उपनिषद, उसके पश्चात् सूत्र और उसके पश्चात् उनके वार्तिक, भाष्य, टीका, कारिका आदि ग्रंथ रचे गये। ये सूत्र अनुमानतः मौर्य युग के कुछ पहले ही लिखे गये होंगे। डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा दर्शनों को ईसा पूर्व छठी शताब्दी में सूत्रबद्ध हो जाना मानते हैं। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत में (विशेषकर श्रीमद् भगवद्गीता) और श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में जो दार्शनिक चिन्तन हुआ है, वह उपेक्षणीय

नहीं है। संप्रदायों के तंत्र ग्रंथों में भी उच्चकोटि का दार्शनिक विवेचन है।

यदि हम मान लें कि विकास का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है, तो इस दृष्टिकोण से हम दर्शनों के तार्किक क्रम (logical order) का अनुमान लगा सकते हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदांत) एक दूसरे के पश्चात् तार्किक क्रम से आते हैं और संभव है कि यह कालक्रम भी हो।

वैशेषिक—इसके प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद शब्द का अर्थ है कणों (खेत में पड़े हुए अन्न के कणों) को खानेवाले। यह था ऋषियों का सांसारिक वैभवहीन सात्विक जीवन। संभव है कि कण या परमाणुओं को मानने के कारण यह नाम पड़ा हो। वैशेषिक नाम "विशेष" नाम के एक पदार्थ को मानने के कारण पड़ा। वैशेषिक का दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक है तथापि उसका उदय धर्म की व्याख्या के लिए ही हुआ है, 'अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:' धर्म से सांसारिक अभ्युदय और निश्रेयस (Summum Bonum) की प्राप्ति होती है। निश्रेयस की प्राप्ति पदार्थों के ज्ञान द्वारा होती है। इस संबंध में पदार्थों की व्याख्या हो जाती है। पदार्थ 6 माने गये हैं— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें सब वस्तुओं को विशेष रूप से ही देखा गया है। आत्मा को अन्य और द्रव्यों (पंच तत्व, काल, दिशा, आत्मा और मन) के साथ एकद्रव्य माना है। वैशेषिक ने परमाणओं को माना है।

न्याय—इसके प्रवर्तक हैं महर्षि गौतम, जिनको अक्षपाद भी कहते हैं। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है, 'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थ सिद्धिरनेन इति न्याय:' अर्थात् जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि तक पहुँचाया जाए वही न्याय है। न्याय में विवेच्य विषयों की अपेक्षा विवेचन या सत्योपलब्धि के साधनों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसलिए उनके सोलह पदार्थों में पंद्रह तर्कशास्त्र से संबंध रखते हैं और प्रमेय में दुनिया के और सब विषय आ जाते हैं। न्याय के पदार्थ इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास (fallacy) छल, जाति, निग्रहस्थान। पिछले छ: दूषित तर्क ही हैं। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नाम के चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण प्रमा व यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। वैशेषिक में उपमान और शब्द को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया गया है।

न्याय में बारह प्रमेय माने गये हैं। वे हैं--आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, (मरणोत्तर जीवन), फल (कर्म फल), दुख, अपवर्ग (मोक्ष)। अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय का विकासक्रम बहुत काल तक चलता रहा। नव्य न्याय ने तर्कशास्त्र को तत्वज्ञान से पृथक कर शुद्ध तर्कशास्त्र की स्थापना की और व्याप्ति ग्रहण (Induction) के उपायों की विशद विवेचना की। यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा। नव्य न्याय के लिए नवद्वीप नदिया शान्तिपुर बहुत प्रख्यात है।

न्याय वैशेषिक दर्शनों की मान्यताएँ प्राय: एक-सी हैं और उनको एक वर्ग में रखा जाता है। तर्क संग्रह, तर्क भाषा आदि जो प्रकरण ग्रन्थ बने, उनमें न्याय वैशेषिक के सिद्धांत सम्मिलित हैं। आर्य समाज में इन दर्शनों की विशेष प्रतिष्ठा है।

सांख्य—इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य में सिद्धांतों का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। उसमें कपिल के तत्वों को गिनानेवाला (तत्व संख्याता) कहा है। सांख्य के 25 तत्व माने हैं :—इनमें पुरुष और मूल प्रकृति मुख्य हैं। पुरुष के अस्तित्व के कारण प्रकृति में विकास प्रारंभ होता है।

इस संयोग में अंध-पंगु न्याय से प्रकृति, पुरुष दोनों को हीं लाभ है। प्रकृति ज्ञान के अभाव वश अन्धी है, पुरुष क्रिया के अभाव के कारण पंगु है। अंधा लंगड़े को यदि अपने ऊपर बैठा ले तो दोनों रास्ता चल सकते हैं। अन्धा चलेगा, लंगडा रास्ता बताएगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि चलती है। प्रकृति पुरुष के बन्धन का भी कारण है और मोक्ष का भी।

सांख्य को अधिकांश लोगों ने निरीश्वर माना है और योग को सेश्वर सांख्य कहा है। प्रकृति पुरुष के अस्तित्व मात्र से स्वयं ही कार्य कर लेती है। उसमें ईश्वर की ज़रूरत नहीं पड़ती। सांख्य सूत्रों में एक प्रसंग विशेष में 'ईश्वरासिद्धेः प्रमाणाभावात्' कहा है। इसीके आधार पर विद्वानों ने सांख्य के निरीश्वर होने की कल्पना की है। ईश्वर की सिद्धि साधारण प्रमाणों से नहीं होतीं है।

योग—इसके प्रवर्तक हैं पतंजलि। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। 'योगश्चित्तवत्तिनिरोधः।' जिस प्रकार वैशेषिक के सिद्धांतों की पुष्टि न्याय प्रतिपादित प्रमाणों से होती है उसी प्रकार सांख्य की पुष्टि और पूर्ति योग द्वारा होती है। महर्षि पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग दर्शन में कर्म की विशद व्याख्या है। योग दर्शन में सांख्य की सृष्टियोजना में ईश्वर का स्थान स्पष्ट कर दिया जाता है। वह उस माली का-सा है, जो बरहे को साफ़ कर पानी की गति को अबाधित कर देता है। मेरी समझ में सांख्य की सृष्टियोजना में इतनी गुंजाइश अवश्य है कि प्रकृति की साम्यावस्था को विषम बनाकर सृष्टि-क्रम जारी करने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पूर्व मीमांसा—इसके आचार्य हैं महर्षि जैमिनी। यद्यपि इनका विषय धर्म की जिज्ञासा है, तथापि इसमें वेदों के पौरुषेय या अपौरुषेय होने तथा उनके अर्थ लगाने की विधि और यज्ञों का विवेचन है।

मीमांसा में कर्म की प्रधानता है—'कर्मेति मीमांसकः। इस प्रधानता के कारण कुछ लोगों ने मीमांसा शास्त्र को निरीश्वर माना है। इसका कारण यह है कि कर्मफल देने में ईश्वर की आवश्यकला नहीं रखी गयी है। कर्म स्वयं ही फलवान हो जाते हैं। किन्तु जो शास्त्र वेदों को पूर्णतया प्रामाणिक मानता है, वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता है।

उत्तर मीमांसा व वेदांत—वेदांत शब्द के कई प्रकार से अर्थ किये गये हैं—वेदों का अन्त अर्थात् वेदों के कर्म और उपासना के पश्चात् ज्ञानकांड जो उपनिषदों में प्रतिपादित है। वेदांत का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विद्या वेदों के अध्ययन के पश्चात् आती हो। वेद और उसके अंगों को अपरा विद्या कहा है और वेदांत या ब्रह्मविद्या को परा विद्या कहा है—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद······अथापरा यदा-तदक्षरमाधिगम्यते।'

वेदों के अन्त, सार वा निचोड़ को भी वेदांत कह सकते हैं। उत्तर मीमांसा शब्द में भी यही भाव है। वेदों के ज्ञानकांड का विकास हमको उत्तरकालीन उपनिषदों में मिलता है। इसलिए ज्ञान प्रधान वेदांत उत्तरकालीन मीमांसा नाम से प्रख्यात हुआ। कर्मकांड प्रधान मीमांसा, पूर्व मीमांसा कहलायी। वेदांत में तीन ग्रंथ प्रमाणित माने जाते हैं—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता, इनको प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के कर्ता वादरायण या वेदव्यासजी हैं। ब्रह्मसूत्र में चार पाद हैं, जिनमें चार चार अध्याय के हिसाब से सोलह अध्याय हैं। ये चार पाद स्वयं ब्रह्म के ही द्योतक हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् सारा विश्व ब्रह्म का एक चौथाई भाग है और तीन पाद में वह अमृत रूप से स्थित है। ब्रह्म का व्यापक अंश थोड़ा है, संसार से जो परे अतीत अंश (Trancedental) हैं वह बहुत हैं। ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार

टीकाएँ की हैं। यद्यपि वे एक ही ग्रंथ की टीकाएँ हैं और उनमें सिद्धांत के काफी भेद हैं, तथापि वे सब श्रुति-वाक्यों से बंधे हुए हैं और सब ही किसी न किसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता मानते हैं। सिर्फ मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतता मानते हैं।

श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवाद कलहाता है। इनका सिद्धान्त इस प्रकार है--'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'। अर्थात् ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म है, दूसरा नहीं। वे अभेद को मानते हैं। सारे भेद मायाकृत हैं और झूठे हैं। श्री शंकराचार्य का वेदान्तभाष्य शारीरिक भाष्य कहलाता है।

श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 'श्रीभाष्यम' में हुआ है। वे ब्रह्म को जगत और जीव से विशिष्ट मानते हैं। चित (जीव) अचित (संसार) और ईश्वर तीनों मिलकर हरि है— 'ईश्वराश्चिदचिच्चेद पदार्थ त्रितयं हरि'। श्री वल्लभाचार्य का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहा जाता है। वे सच्चिदानंद ब्रह्म में सत्+चित्+आनन्द तीनों गुण मानते हैं। जीवन में आनन्द का तिरोभाव रहता है और सत् और चित् का भाव रहता है। जड़ में आनन्द और चित दोनों का अभाव रहता है, केवल सत् का भाव रहता है। वे संसार को झूठा नहीं मानते। इनका संप्रदाय पुष्टि मार्ग भी कहलाता है। पुष्टि भगवान के अनुग्रह को कहते हैं। वल्भाचार्य का भाष्य अणुभाष्य कहलाता है। निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त द्वैताद्वैत कहलाता है। जीव की

यह पृथक् सत्ता मानते हुए भक्ति द्वारा उसमें लीन हो जाना बतलाते हैं। वे राधाकृष्ण की उपासना पर बल देते हैं।

मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतवादी हैं। वे जीव जगत का और जीव और ब्रह्म का भेद मानते । जगत के पदार्थों में भी मौलिक भेद मानते हैं।

समन्वय—यद्यपि भारतीय दर्शनों की संख्या छः है और उनमें परस्पर भेद है, तथापि वह भेद दृष्टिकोण का है। वे एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, वे एक दूसरे के पूरक हैं। इनका दृष्टिकोण-भेद समझ लेना चाहिए। षट्-दर्शनों में वास्तव में तीन प्रकार की विचारधाराएँ हैं। ये छहों दर्शन तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग और पूर्व और उत्तर मीमांसा। इन युग्मों में एक अनुष्ठापक और दूसरा ज्ञापक कहा जाता है। अर्थात् एक का संबंध साधनों और क्रियाओं से है और दूसरे का संबंध ज्ञान से। न्याय-वैशेषिक में न्याय ज्ञापक है और वैशेषिक अनुष्ठापक। वैशेषिक-धर्म की व्याख्या के लिए आया 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'। सांख्य योग में सांख्य ज्ञापक और योग अनुष्ठापक है। योग में चित्तवृत्ति के निरोध का साधन बतलाया है उत्तर मीमांसा ज्ञापक है और पूर्व मीमांसा अनुष्ठापक है। इसका भी उदय धर्म की जिज्ञासा और व्याख्या के लिए हुआ।

इन दर्शनों का भेद अधिकारी-भेद से भी माना गया है। अधिकारी मानसिक विकास के अनुसार स्थूल से सूक्ष्म की ओर

जाता है। पहली श्रेणी न्याय-वैशेषिक की है, दूसरी श्रेणी साँख्य योग की, तीसरी श्रेणी पूर्व और उत्तर मीमांसा की।

चार्वाक—इस शब्द की व्युत्पत्ति चारु अर्थात् सुन्दर वाक्य से की जाती है। क्योंकि इनके सिद्धांत साधारण मनुष्य को अच्छे लगते हैं। वे चारु वाक्य के रूप में उसे दिखाई पड़ते हैं। इसके आचार्य हैं देवताओं के गुरु बृहस्पति। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने दानवों को धोखा देने के लिए ग़लत मत का प्रचार किया था। यह बात ठीक नहीं मालूम होती। देवता या ऋषि लोग किसीको धोखा नहीं देते। ये लोग देहात्मवादी हैं। आत्मा को शरीर का ही विकार मानते हैं, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार महुआ से शराब उत्पन्न होती है—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' यह इनका मूल मंत्र है।

बौद्ध दर्शन—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध थे। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इनका जन्म ईसा से 566 वर्ष पूर्व हुआ था। इन्होंने तप करके गया में बुद्धत्व प्राप्त किया था और प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन सारनाथ में किया था। इन्होंने चार आर्य सत्यों और अष्टाँगिक मार्ग का प्रतिपादन किया। इनके धर्म में वैदिक कर्मकांड के हिंसावाद की प्रतिक्रिया है। बौद्ध लोग वेद और ईश्वर को नहीं मानते। ये जाति-पांति के विरुद्ध थे। इनके यहाँ संघ को विशेष महत्व मिला है। बुद्ध धर्म को स्वीकार करते समय लोग तीन रत्नों की—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाते थे।

वे कहते थे 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।' पूर्ण समताभाव इनकी विशेषता है।

बौद्ध दर्शन का भी उदय सांख्य की भांति दुःख की निवृत्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार सांख्य का मूल उद्देश्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, उसी प्रकार बुद्ध महाराज के आने का उद्देश्य बतलाया गया है कि उन्होंने दुख और उसके कारणों और उसके शमन का उपाय बतलाया।

संसार और जीव के संबंध में बौद्ध लोग किसी शाश्वत आत्मा को नहीं मानते और न वे चार्वाकों की भांति आत्मा के अस्तित्व को बिलकुल मिटाते ही हैं। जब तक वासना का क्षय नहीं होता, तब तक आवागमन का चक्र चलता रहता है। लेकिन जो आत्मा जन्म लेती है, वह आगे बढ़ती हुई संस्कारों की परंपरा है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति में प्रतिक्षण नये कण आते रहते हैं, उसी प्रकार नये संस्कारों का प्रभाव चलता रहता है। बाह्य सत्ता भी इन क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस संसार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इन क्षणिक पदार्थों में आधार के संबंध में बौद्धों के चार संप्रदाय हैं— वैभाषिक और वैधानिक को बाह्याधीर मानते हैं और माध्यमिक और योगाचार नहीं मानते। योगाचारवाले शून्यवादी हैं। ये तो दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार विभाग कहा जाता है बौद्ध धर्म की अठारह शाखाएँ थीं। धार्मिक दृष्टि से दो मुख्य शाखाएँ थीं—हीनयान और महायान। हीनयान का शासन

बहुत कठोर था। महायान का शासन कुछ उदार था। हीनयान का ग्रंथ पाली में है, महायान के संस्कृत में। महायान पर शव संप्रदाय का प्रभाव था।

जैन--जैन मत के प्रवर्तक हैं भगवान ऋषभदेव ये पहले तीर्थंकर हैं। जैन धर्म में चौवीस तीर्थंकर माने गये हैं। महावीर स्वामी अंतिम तीर्थंकर थे। वे भगवान बुद्ध के समकालीन थे। जिन आत्माओं को पूर्वज्ञान प्राप्त हो जाता है और कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जंन धर्म किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानता है। जैनों में दो मुख्य संप्रदाय हैं--दिगंबर और श्वेतांबर। दिगंबर मूर्तियाँ नग्न होती हैं और श्वेतांबर वस्त्रों से आच्छादित रहती हैं। जैनों में एक सप्रदाय स्थानिकवासियों का है। वे मूर्तिपूजक नहीं होते, वे साधुओं को विशेष महत्व देते हैं। जैन दर्शन में न्याय, वैशेषिक और साँख्य का-सा बहुपुरुषवाद है। संसार को सत्य माना गया है। वेदांत के विपरीत जीव मुक्त होकर व्यक्तित्व को नहीं खो देता है। जैन दर्शनों में आत्मा मुक्त होकर अपना पार्थक्य रखती है। इस प्रकार जैन सिद्धान्त अनेकत्वादी वेदांत हैं और पुद्गल को अलग मानने से सांख्य के बहुत निकट आ जाता है। फिर भी उसकी विशेषता है। सबसे बड़ी विशेषता अनेकान्तिक दृष्टिकोण की। अर्थात् यह कि एक ही चीज़ को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में देख सकते हैं। स्थायित्व की दृष्टि से हम वस्तु को अस्ति कह सकते हैं, किन्तु उसके परिवर्तनों की दृष्टि से नास्ति कह सकते हैं,

दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर अस्ति नास्ति भी कह सकते हैं। ऐसे सात भंग माने गये हैं। इसीको सप्तभंगी न्याय कहते हैं। लेकिन दृष्टिकोण या नय अनेक हो सकते हैं। अनेकान्तवाद को भी मानते हुए जैन सिद्धान्त अनेकत्व में एकत्व देख सकते हैं

जैन धर्म जीव को मिट्टी में मिला हुआ खान के सोने की भांति मानता है। उसको वासनाओं के कारण पुदगल का आस्रव होता रहता है और अधिकाधिक धूल मिलती जाती है। इस आस्रव को संवर और निर्जन द्वारा रोक देना और जीव को शुद्ध कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। इसके लिए शमदमादि की आवश्यकता होती है। जैन सिद्धांत आवागमन को मानते हैं और कारण और तेजस शरीर में भी विश्वास रखते हैं। जैन धर्म सिद्धांत में समता भाव रखता हुआ भी जाति-पांति को मानता है। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी वह हिन्दू जीवन में घुल-मिल गया है।

हमारा भविष्य--भारतीय विचारधारा शुद्ध रूप में अठारहवीं सदी तक चलती रही। नवद्वीप में नव्य-न्याय का उत्तर-कालीन विकास इसका प्रमाण है। निश्चलदास आदि के विचार-सागर आदि ग्रथों में वेदान्तिक विचारधारा प्रवाहित हुई है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज ने भी भारतीय विचारधाराओं को अग्रसर करने में योग दिया है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द घोष ने अपने भाषणों में भारतीय विचारधारा को बढ़ाया ही है। उनकी मौलिक देन चाहे अधिक न हो, किन्तु उन्होंने ज्ञान की ज्योति को बुझने से बचाये

रखा है। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। आजकल के युग में रवींद्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी ने भारत की विचारधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवाद संबंधी कविताओं में बैष्णव प्रेम-पद्धति का एक नये रूप में पुनर्जीवन हुआ है।

महात्मा गांधी ने नीति और आचार संबंधी विचारधारा पर अधिक प्रभाव डाला है। उनकी विचारधारा में भारतीय अहिंसा और टालस्टाय के विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है। भविष्य में चलकर इन विचारों का यथार्थ मूल्यांकन हो सकेगा। डा० सर्वेपल्लि राधाकृष्णन, डा. एस. एन. दास गुप्त आदि विद्वानों ने भारतीय विचारधारा का, अंग्रेज़ी भाषा जाननेवालों को उनकी ही भाषा में (खग जाने खग ही की भाषा) परिचय कराया है। इनके साथा उन्होंने अपने विचारों द्वारा भारतीय विचारधारा को कुछ अग्रसर किया है। पाश्चात्य देशों में डा. राधाकृष्णन के विचार निरपेक्षक प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) के नाम से प्रख्यात हैं।

अब भारतीय विचारधारा शुद्ध गंगा-धारा तो नहीं रही है, उसमें पश्चिमी विचारधारा का यमुना जल भी मिल गया है। यह तो इतने दुख का विषय नहीं है, यह सम्मिश्रण हमारी विचारधारा को अधिक गति प्रदान करेगा। किन्तु बिना समझे-बूझे पाश्चात्य विचारों की कोरी नक़ल करना अवश्य दुख का विषय है। हमको पश्चिम की विचारधारा से भी लाभ उठाकर अपनी परंपरा को आगे बढ़ाना चाहिए।

खून का बदला

(अंग्रेज़ी नाटककार विलियम शेक्सपियर ने जूलियस सीज़र नामक नाटक लिखा है, जो अंग्रेज़ी साहित्य में बहुत मशहूर है। सीज़र रोम का एक बड़ा बहादुर सिपाही था। उसने कई लड़ाइयों में फ़तहयाब होकर रोम का नाम और इज़्ज़त बहुत बुलंद किया था। उसकी बढ़ती हुई शोहरत को देखकर ब्रूटस वग़ैरह कुछ दोस्त उसपर शुबहा करने लगे कि यह रोम का बादशाह बनना चाहता है। इसलिए उन लोगों ने उसके खिलाफ़ रोम के लोगों के दिल में ग़लत ख्याल पैदा किया और साज़िश करके उसको मार डाला।

जूलियस सीज़र के कुछ दोस्त भी थे, जिनमें एन्टोनी सबसे होशियार और बहुत अच्छी तक़रीर देनेवाला था। जब उसे सीज़र के मरने की खबर मिली, तो उसने रोम के लोगों के सामने आकर ऐसी तक़रीर दी कि सारा मजमा ब्रूटस के खिलाफ़ हो गया और लोगों ने गुस्से में आकर ब्रूटस को ही क़तल कर दिया।)

ब्रूटस—मुझे कुछ कहना है, उसे मेरे मक़सद की ख़ातिर सुनो और ख़ामोश रहो कि मेरी तकदीर तुम्हें सुनाई दे। मेरी शराफ़त का ख्याल करके मेरे क़ौल पर यक़ीन करो और उसका इहतराम करो, ताकि तुम्हें यक़ीन आए। अपनी दानिशमंदी से मेरे फ़ेल पर हुक्म लगाओ और बेदार मग़ज़ों से काम लो, ताकि तुम सही फ़ैसला कर सको। अगर इस मजमा में क़ैज़र का कोई अज़ीज़ दोस्त मौजूद है, तो मैं उससे कहता हूँ कि ऐ मेरे दोस्त, तुमको क़ैज़र से जिस क़दर मुहब्बत थी, ब्रूटस को उससे कम न थी। फिर अगर वह दोस्त मुझसे पूछे कि तुमने

कैज़र पर तलवार क्यों उठायी, तो मेरा जवाब यह है—इस वजह से नहीं कि मैं कैज़र को कम चाहता था, बल्कि इस वजह से कि मैं रोम को ज्यादा चाहता था। (आवाज़ में ज़ोर पैदा हो जाता है।) क्या तुम्हारे नज़दीक यह अच्छा था कि कैज़र ज़िंदा रहता और तुम सब गुलामों की मौत मरते, या यह अच्छा है कि कैज़र मर गया है और तुम सब आज़ाद हो ? कैज़र मुझसे मुहब्बत करता था, इसलिए मैं उसका मातम करता हूँ। वह खुश-क़िस्मत था, उसे याद करके मैं खुश होता हूँ। वह बहादुर था, इसलिए मैं उसकी इज्ज़त करता हूँ; लेकिन चूंकि वह ज़ाहतलब था इसलिए मैंने उसे क़त्ल कर दिया। उसकी मुहब्बत के लिए आँसू हैं, उसकी खुशनसीबी पर खुशी है; उसकी बहादुरी का सिला इज्ज़त है और उसकी जाहतलबी की सज़ा मौत ! (आवाज भर्रा जाती है।) क्या यहाँ है कोई ऐसा ज़लील आदमी, जो गुलाम होना पसंद करे ? अगर हो तो कह दे, क्योंकि मैं उसका मुजरिम हूँ। क्या यहाँ है कोई ऐसा कमीना, जिसे अपने मुल्क से मुहब्बत नहीं ? अगर हो तो कह दे, क्योंकि मैं उसका मुजरिम हूँ। क्या यहाँ है कोई ऐसा बदनफ़स, जिसे रूमी होना गवारा नहीं ? अगर हो, तो कह दे, क्योंकि मैं उसका मुजरिम हूँ।

सब—(एक-ज़बान होकर) कोई नहीं है, ब्रूटस ! कोई नहीं है।

ब्रूटस—फिर मैं किसीका मुजरिम नहीं ! जो मैंने क़ैज़र के साथ किया है, वही तुम चाहो तो ब्रूटस के साथ कर सकते हो। क़ैज़र की मौत के हालात सरकारी दफ्तर में महफ़ूज़ हैं,

जिनमें न उसकी अज़मत पर, जो उसकी ख़ूबी है, पर्दा डालने की कोशिश की गयी है, न उसके क़ुसूरों को, जो उसकी मौत के बाइस हुए, नुबालग़ा के साथ बयान किया गया है।

(इतने में कैज़र के दोस्त एंटोनी वग़ैरह, जो उसका इंतक़ाम लेना जाहते हैं, कैज़र की लाश लेकर आजाते हैं। ब्रूटस उन्हें देखकर फिर मजमा की तरफ़ मुख़ातिब होता है।)

वह देखो, एंटोनी उसकी लाश पर मातम करता हुआ आ रहा है। मगर एंटोनी का कैज़र के क़त्ल में कोई दख़ल न था; लेकिन उसे भी उससे फ़ायदा पहुँचेगा, यानी हुकूमत में ओहदा मिलेगा। इसीपर क्या मौक़ूफ़ है? तुममें से ऐसा कौन है, जिसे फ़ायदा नहीं पहुँचेगा! में इतना कहकर रुख़सत होता हूँ कि जिस तरह मैंने अपने अज़ीज़तरीन दोस्त को इस खंजर से क़त्ल कर दिया, उसी तरह यह खंजर मेरे ख़ून बहाने के लिए मौजूद होगा, अगर मेरी मौत से मेरे मुल्क को फ़ायदा पहुँच सके।

सब—(एक-ज़बान होकर) ज़िंदाबाद ब्रूटस! ज़िंदाबाद!!

एक रूमी—एक जुलूस बनाकर इसे इसके घर ले चलो।

दूसरा रूमी—इसके बाप-दादा की तरह इसको भी जिस्मानी इज्ज़त दें।

तीसरा रूमी—इसीको कैज़र क्यों न बना दें?

चौथा रूमी—हाँ, कैज़र की तमाम ख़ूबियाँ इसकी ज़ात में जमा हैं।

ब्रूटस—मेरे हमवतनों!....

एक शख़्स—ख़ामोस! ब्रूटस ख़ुद कहना चाहता है।

दूसरा—ख़ामोश ! ख़ामोश !

ब्रूटस—मेरे प्यारे हमवतनो ! मुझे अकेला जाने दो और मेरी ख़ातिर यहाँ एंटोनी के पास ठहरो, अदब करो कैज़र के जनाज़े का और अदब से सुनो एंटोनी की तक़रीर कैज़र की शान में, जो वह हमारी इजाज़त से करता है। मैं तुमसे दरख्वास्त करता हूँ कि जब तक एंटोनी अपनी तक़रीर ख़त्म न करे, यहाँ से मेरे सिवा कोई शख्स न हिले।

एक रूमी—लोगो ! ठहरो ! ठहरो ! मार्क एंटोनी की तक़रीर सुनो।

दूसरा रूमी—इसे मेम्बर पर जाने दो। हम इसकी तक़रीर सुनेंगे। शरीफ़ एंटोनी ! ऊपर चढ़ जाओ।

एंटोनी—मैं ब्रूटस की वजह से तुम्हारा बड़ा एहसानमंद हूँ।

(यह कहकर मेम्बर पर चढ़ जाता है।)

तीसरा रूमी—क्या कहा उसने ब्रूटस के मुतअल्लिक़ ?

चौथा रूमी—कहा है कि ब्रूटस की वजह से हम सबका एहसानमंद है !

तीसरा रूमी—इसका भला इसीमें है कि वह ब्रूटस को यहाँ बुरा न कहे !

पहला रूमी—यार, यह कैज़र तो बड़ा ज़ालिम था।

तीसरा रूमी—इसमें क्या शक है ? खुदा का शुक्र है कि इससे नजात मिली।

दूसरा रूमी—ख़ामोश ! ज़रा सुनो तो कि एंटोनी कहता क्या है !

एंटोनी—शरीफ़ रूमियो ! ....

बहुत-सी आवाज़ें— ख़ामोश हो जाओ ! सुनने दो !

एंटोनी—दोस्तो ! रूमीयो ! हमवतनो ! मेरी बात कान लगाकर सुनो । मैं कैज़र को दफ़न करने आया हूँ, इसके गुण गाने नहीं आया । लोग जो बुराई करते हैं, वह उनके मरने के बाद भी ज़िन्दा रहती है; लेकिन उनकी नेकियाँ उनकी हड्डियों के साथ दफ़न कर दी जाती हैं। यही कैज़र का हशर होगा। शरीफ़ ब्रूटस ने तुम्हें बतलाया है कि कैज़र शोहरत-पसन्द था, जाहतलब था । अगर यह बात सच है, तो यह बहुत सख्त जुर्म था और उसकी सज़ा भी कैज़र को बहुत भुगतनी पड़ी है । मैं यहाँ ब्रूटस और उसके साथियों की इजाज़त से, क्योंकि ब्रूटस भी शरीफ़ आदमी है और उसके साथी भी शरीफ़ लोग हैं, कैज़र के जनाज़े पर तक़रीर करने आया हूँ । वह मेरा दोस्त था, मुँसिफ़-मिज़ाज और वफ़ादार; लेकिन ब्रूटस कहता है कि वह जाहतलब था और ब्रूटस शरीफ़ आदमी है! वह रूम में न जाने कितने क़ैदी लड़ाइयों से साथ लाया है, जिनके फ़िदिथे से रूम का ख़ज़ाना भर जाता था। यही उसकी जाहतलबी थी ? जब ग़रीब फ़रियाद करते थे, तो कैज़र रोता था ! जाहतलबों का तो दिल सख्त है; लेकिन ब्रूटस कहता है कि यह जाहतलब था और ब्रूटस शरीफ़ आदमी है ! तुमने देखा था कि लूपरकाल में मैंने तीन बार ताज शाही उसकी ख़िदमत में पेश की; लेकिन उसने तीनों बार इनकार कर दिया। इसीका नाम जाहतलबी है ? मगर ब्रूटस कहता है कि वह जाहतलब था, और

ब्रूटस यक़ीनन शरीफ़ आदमी है। मुझे ब्रूटस की तरदीद मक़सूद नहीं । मैं जो कुछ जानता हूँ, वह कह देता हूँ। तुम सब एक ज़माने में उससे मुहब्बत करते थे। आख़िर बेवजह तो नहीं! फिर अब क्या वजह है कि तुम उसका मातम नहीं करते? (आवाज़ में जोश और गुस्सा पैदा हो जाता है।) ऐ अक्ल व तमीज़ ! तूने जाकर दरिंदों में पनाह ली है! (फिर धीमी आवाज़ में) मुझे माफ़ करना। मेरे दिल इस ताबूत में कैज़र के पास है । मुझे तब तक ठहरना है, जब तक वह मेरे पास वापस न आ जाए।

एक रूमी—बात तो ठीक कहता है!

दूसरा—हाँ, अगर गौर करो, तो कैज़र पर बड़ा ज़ुल्म हुआ।

तीसरा—इसमें क्या शक है? मुझे तो अंदेशा है कि उसकी जगह कोई उससे भी बदतर आदमी हाकिम बन जाएगा।

चौथा—तुमने सुना नहीं कि उसने ताज पहनने से इनकार कर दिया था? फिर तो वह यक़ीनन जाहतलब नहीं था।

पहला—अगर यह सच है, तो बाज़ लोगों को उसकी अच्छी तरह सज़ा भुगतनी पड़ेगी।

दूसरा— देखो तो, एंटोनी ग़रीब की आँखें रोते-रोते सुर्ख अंगारा हो गयी हैं।

तीसरा—एंटोनी से बेहतर तो सारे रूम में कोई आदमी नहीं है।

चौथा—अच्छा, अब गौर से सुनो ! वह फ़िर तक़रीर शुरू कर रहा है।

एंटोनी—अभी कल की बात है कि कैज़र एक इशारे में दुनिया को पलट देता था और अब देखो, यहाँ पड़ा है और कोई अदन-सा आदमी भी उसका मातम करनेवाला नहीं ! साहबो ! अगर मैं आपके दिल व दिमाग़ में ग़म व गुस्से के जज्बात पैदा करूँ, अगर मैं आपको बगावत पर अमादा करना चाहूँ, तो यह ब्रूटस के साथ ज्यादती होगी, कैसियस के साथ ज्यादती होगी। और ये दोनों आप जानते हैं बड़े शरीफ़ आदमी हैं। मैं इनके साथ नाइंसाफी नहीं करूँगा। मुझे यह गवारा है कि मुर्दे के साथ नाइंसाफी करूँ, अपने साथ और आपके साथ नाइंसाफी करूँ ; लेकिन मुझे इन शरीफ़ आदमियों के साथ नाइंसाफी गवारा नहीं। देखिये, यह एक ख़रीता है, जिसपर कैज़र की मुहर साबित है। यह उसका वसीयतनामा है, जो मुझे उसके कमरे में मिला है। अगर कहीं जमहूर इस वसीयतनामे को सुन लेते—माफ़ कीजिएगा, मैं उसे सुनाना नहीं चाहता—वह दौड़कर कैज़र के ज़ख्मों को बोसा देते, अपने रूमालों को उसके मुक़द्दम खून में तर करते, उसकी यादगार के तौर पर और कुछ नहीं तो एक बाल ही माँगकर अपने पास रखते और मरते वक्त उसका अपने वसीयतनामे में ख़ास तौर पर ज़िक्र करते और उसे अपने बाल-बच्चों के लिए बतौर एक बेशक़ीमत विरासत के, छोड़ जाते।

हाज़िरीन में से एक—हम वसीयतनामे को सुनेंगे। मार्क एंटोनी, उसे पढ़कर सुनाओ !

सब लोग—वसीयतनामा ! वसीयतनामा ! हम कैज़र का वसीयतनामा ज़रूर सुनेंगे !

एंटोनी—दोस्तो ! अज़ीज़ो ! ज़रा सब्र करो ! वह वसीयतनामा पढ़ने का नहीं। तुम्हें इसका इल्म होना मुनासिब नहीं कि कैज़र तुमसे कितनी मुहब्बत करता था ! तुम इंसान हो, ईंट-पत्थर नहीं हो। अगर तुम कैज़र का वसीयतनामा सुनोगे, तो तुम्हारे तन-बदन में आग लग जाएगी। तुम रंज और गुस्से से दीवाने हो जाओगे। तुम्हें यह न मालूम हो तो अच्छा है कि तुम इसके वारिस होकर—चूंकि अगर तुम्हें ख़बर हो गयी तो—या ख़ुदा ! कौन जाने क्या नतीजा हो ?

एक शक्स—सुनाओ वसीयतनामा, एंटोनी ! हम उसको ज़रूर सुनेंगे ! नहीं, सुनाना पड़ेगा !

एंटोनी—अच्छा, तुम सब्र से सुनो भी। ज़रा ठहर जाओ। मैंने ज़ोश में आकर इसका ज़िक्र कर दिया; मुझे नहीं करना चाहिए था। मुझे डर यह है कि कहीं यह उन शरीफ़ आदमियों के साथ ज्यादती न हो, जिनकी खंजरों ने कैज़र के जिस्म को छलनी बना दिया है।

दूसरा—वे सब गद्दार हैं, गद्दार ! आये हैं बड़े शरीफ़ बनके !

सब—वसीयतनामा ! वसीयतनामा !

तीसरा—सब बदमाश हैं ! सब पाजी हैं ! तुम तो वसीयतनामा पढ़कर सुनाओ ! वसीयतनामा !

एंटोनी—तुम तो वसीयतनामा पढ़वाकर ही मानोगे। अच्छा, चलो ! कैज़र की लाश के गिर्द एक हलक़ा बना लो।

तुम्हें यह भी तो दिखा दूँ कि वसीयतनामे का लिखनेवाला कौन था। मैं नीचे उतर आऊँ ? तुम्हारी इजाज़त है ?

सब—हाँ ! हाँ ! नीचे आ जाओ।

दूसरा—उतरो ! उतरो !

(एंटोनी नीचे उतर आता है।)

तीसरा—आओ, तुम्हें इजाज़त है।

पहला—ताबूत से हटकर खड़े हो जाओ।

चौथा—आओ, कैज़र की लाश के चारों तरफ़ घेरकर खड़े हो जाओ।

एंटोनी—मुझपर पिले क्यों पड़ते हो ? ज़रा हटकर खड़े हो जाओ।

सब लोग—हटो ! हटो ! पीछे हटकर खड़े हो जाओ ! जगह दो ! मुअज्ज़िज़ एंटोनी को जगह दो !

एंटोनी—दोस्तो ! अगर तुम्हारी आँखों में आँसू है, तो अब उन्हें बहाने के लिए तैयार हो जाओ। तुम सब इस चोगे को पहचानते हो ? मुझे वह दिन याद है, जब कैज़र ने उसे पहली बार पहना था। गर्मी का मौसम था और शाम का वक्त। कैज़र अपने खेमे में बैठा हुआ था। उस रोज़ उसने नर्वाई क़ौम को शिकश्त दी थी। यह देखो, यह वह जगह है, जहाँ कैसियस के खंजर ने इसे चाक किया है। और इस मुक़ाम पर यह देखो, हासिद कास्का ने कितना बड़ा शिगाफ़ कर दिया है ! इस जगह ब्रूटस—कैज़र के अज़ीज़ और महबूब दोस्त ब्रूटस ने खंजर का वार किया है और जब उसने अपने खंजर को

निकाला तो देखो, किस तरह कैज़र का खून फौव्वारे की तरह बह निकला ! गोया उसने यह मालूम करना चाहा कि क्या वाक़ई ऐसा भारी ज़ख्म ब्रूटस ही ने लगाया है। क्योंकि यह तो तुम जानते ही हो कि ब्रूटस कैज़र को जान से बढ़कर अज़ीज़ था। ऐ देवताओ ! तुम्हीं इंसाफ़ करो कि कैज़र इसे किस क़दर चाहता था ! कैज़र के लिए वह ज़ख्म सबसे सख्त था। क्योंकि जब शरीफ़-दिल कैज़र ने ब्रूटस को खंजर मारते देखा, तो नाशुक्री और बेवफ़ाई ने जो दुश्मनों के हथियारों से कहीं बढ़कर हैं, उसे पस्त कर दिया। तब उसका क़वी दिल पाश-पाश हो गया। अबा में अपने चेहरे को ढककर वह पाम्पी के बुत के नीचे जिससे खून टपक रहा था, ज़मीन पर गिर पड़ा। मेरे हमवतनो ! वह गिरना भी किस क़यामत का गिरना था ! उसके गिरने से, गोया मैं, तुम, हम सब के सब ख़ाक पर गिर पड़े और चारों तरफ़ बग़ावत और खून का दौर-दौरा हो गया। हाँ, अब तुम रोते हो ! और मैं देखता हूँ कि रंज और रहमदिली के जज्बात तुम पर ग़ालिग आ रहे हैं। तुम्हारे ये आँसू बड़े मुबारक हैं। ऐ नेकदिल लोगो ! तुम कैज़र के कपड़ों को फटा हुआ देखकर रोया करते हो ! देखो, इसके जिस्म को देखो। इन गद्दारों के खंजरों ने छलनी कर दिया है !

एक शख्स—हाय, कैसा दर्दनाक नज्ज़ारा है !

दूसरा—हाय, शरीफ़-दिल कैज़र !

तीसरा—कैसा अंदूहनाक दिन है आज का !

चौथा—कम्बख्त, पाजी, गद्दार कहीं के !

पाँचवाँ—हम उनसे बदला लेंगे !

सब—(एक-ज़बान होकर) हाँ-हाँ, बदला लेंगे ! चलो, उनको ढूंढ़ो ! मार डालो ! जला दो ! एक भी क़ातिल को ज़िन्दा न छोड़ो !

एंटोनी—मेरे हमवतनो ! ज़रा ठहरो ! सब्र करो !

पहला—ख़ामोश ! सुनो, एंटोनी क्या कहता है !

दूसरा—हाँ, हम इसकी सुनेंगे । इसके कहने पर चलेंगे इसके साथ अपनी जानें दे देंगे ।

एंटोनी—अच्छे दोस्तो ! देखो, ऐसी बग़ावत पर आमादा न हो जाओ । जिन लोगों ने यह काम किया, वे सब शरीफ़ आदमी हैं । अफ़सोस, मुझे यह नहीं मालूम कि उन्हें क्या जाती रंजिशें थीं, जिनकी वजह से उन्होंने ऐसा किया । वे अक्लमन्द भी हैं और मुअज़्ज़िज़ भी । और तुम्हें यक़ीनन अपने इस फ़ेल की वजह बतलाकर यक़ीन करा देंगे । दोस्तो ! मैं तुम्हारे दिलों को मोहने नहीं आया हूँ । मैं ब्रूटस जैसा तक़रीरदाँ नहीं हूँ । तुम जानते हो, मैं अक्खड़, साफ़गो आदमी हूँ और अपने दोस्त का दोस्त हूँ । यह बात उन लोगों को मालूम है, जिन्होंने मुझे कैज़र के बारे में तक़रीर करने की इजाज़त दी है । क्योंकि मेरी गुफ़्तगू में न वह शेख़ी है, न वे जादू भरे अलफ़ाज़, जो लोगों को गर्मा दें । मैं तो जो जी में आता है, कहता चला जाता हूँ; और तुम्हें वे ही बातें बतलाता हूँ, जो तुम खुद जानते हो । तुम्हें अपने प्यारे कैज़र के ज़ख्म दिखलाता हूँ; जो गोया उसकी गूँगी ज़बान है । और मैं उनसे

कहता हूँ कि वे मेरी तरफ़ से बोलें। (जोश में) हाँ, अगर मैं ब्रूटस होता, और ब्रूटस एंटोनी होता, तो वह एंटोनी अलबत्ता तुम्हारे जज़्बात को उभाड़ता और कैज़र के ज़ख्म में ज़बान लगा देता कि रूम का एक-एक पत्थर बगावत के लिए उठ खड़ा होता।

सब—हम बगावत करने को तैयार हैं!

एक शख्स—हम ब्रूटस के मकान में आग लगा देंगे!

दूसरा—चलो, फिर देर क्या है? साज़िश करनेवालों की तलाश करो।

एंटोनी—दोस्तो! मेरी बात सुनो; जल्दी मत करो!

सब—ख़ामोश! एंटोनी, मुअज़्ज़िज़ एंटोनी की तक़रीर सुनो!

एंटोनी—दोस्तो! दोस्तो! तुम्हें मालूम भी है कि तुम किसलिए जा रहे हो? कैज़र ने तुम्हारे लिए क्या किया है, जो तुम इससे इस दर्जा मुहब्बत करते हो? अफ़सोस! तुम्हें यह भी मालूम नहीं! आओ, मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम उस वसीयत-नामे को भूल गये, जिसका ज़िक्र मैंने किया था?

सब मिलकर—हाँ, सच तो है! ठहरो! वसीयतनामे को सुनो!

एंटोनी—लो, यह है वह वयसीतनामा और इसपर कैज़र की मुहर है। उसने अपनी दौलत में से हर एक रूमी के लिए 75 अशर्फियाँ छोड़ी हैं।

एक शख्स— वाह रे शरीफ़ कैज़र! हम इसकी मौत का बदला लेंगे।

दूसरा—वाह रे कैज़र ! तूने क्या शाहाना मिज़ाज पाया था !

एंटोनी—ज़रा सब्र से मेरी बात सुन लो।

सब—ख़ामोश ! ख़ामोश !

एंटोनी—यही नहीं, बल्कि उसने अपनी तमाम सैरगाहें और अपने तमाम बाग़, जो दरियाए-टैबर की उस जानिब हैं, वे तुम्हें और तुम्हारी औलाद को दे दिये हैं, ताकि वे बाग़े-आम के तौर पर तुम्हारी सैर और तफ़रीह के लिए वक्फ़ हों। कैज़र हो तो ऐसा हो !

एक शख्स—कभी नहीं ! कभी नहीं ! चलो ! चलो ! हम उसकी लाश को किसी पाक मुकाम पर जलाएँगें और उसी आग के लूकों से उसके क़ातिलों के घरों को जलाकर उस ख़ाक को तह कर देंगे। आओ, उसका जनाज़ा उठाओ !

दूसरा—चलो, आग लाओ !

तीसरा—बेंचों को तोड़ डालो !

चौथा—बेंचें क्या ? तख्त, खिड़कियाँ जो मिले, तोड़ डालो !

(सब लाश लेकर चले जाते हैं।)

एंटोनी—हाँ, ऐ शैतानियत, तू बेदार हो गयी है। अब तू जो राह चाहे अख्तियार कर !

—शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र' नाटक से

माननीय श्रीनिवास शास्त्री

—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

"मिस्टर शास्त्री आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूज़ीलैण्ड की यात्रा पर जा रहे हैं। आप उनसे ज़रूर मिलिये और प्रवासी भारतीयों के विषय में जो कुछ मसाला उन्हें दे सकें दीजिये।" मि. पोलक की इस आशय की एक चिट्ठी ने, जो मई सन् 1922 में मिली थी, मुझे बड़े पशोपेश में डाल दिया। पहला ख़याल था संकोच का। मेरे जैसे अर्द्ध-शिक्षित आदमी को माननीय श्रीनिवास शास्त्री जैसे महापुरुष से मिलना भी चाहिए या नहीं? किसी भिखमंगे की जो हालत लखपति आदमी से मिलने के समय होती है, बस, वैसी ही दशा मेरी भी थी। इसके सिवा एक कठिनाई और भी थी। अंग्रेजी तथा हिन्दी-पत्रों में शास्त्रीजी के विषय में लेख पढ़कर अपने मस्तिष्क में उनकी जिस मूर्ति की मैंने कल्पना की थी, वह बिलकुल आकर्षक न थी।

शास्त्रीजी शिमला जा रहे थे और आगरा कैंट से मथुरा तक उनके साथ यात्रा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। थोड़ी देर की बातचीत के बाद ही बड़ा आश्चर्य हुआ। मन में सोचा—"जिस 'अहंकारी', 'सरकार के खुशामदी' तथा 'हृदयहीन' व्यक्ति की निन्दा नित्यप्रति समाचारपत्रों में पढ़ने को मिला करती है, उससे तो ये बिलकुल भिन्न आदमी मालूम होते हैं।" अपनी मूर्खता पर बड़ा पश्चाताप हुआ

और तब यह बात मेरी समझ में आयी कि अख़बारों के भरोसे किसी मनुष्य के चरित्र के विषय में फ़ैसला कर बैठना महज़ हिमाक़त है। 10 सितम्बर, 1922 के 'स्वराज्य' में मि. एन. एस. वी. ने शास्त्रीजी का स्केच लिखते हुए लिखा था—"जब समाचारपत्रों ने अग्रलेख लिखनेवाले सोचते थे कि गंभीर आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों पर लिखे गये हमारे लेखों से पाठक अब ऊब चुके हैं और कोई ख़ास बात हमारे पास लिखने के लिए है भी नहीं, तो फौरन उनकी निगाह मि. शास्त्रीजी पर पड़ती और वे कहते—'बस मिल गया एक विषय! शास्त्रीजी का मज़ाक उड़ाये जाओ! उपहास तथा व्यंग्य के लिये ये अच्छी सामग्री हैं।' मेरे एक मित्र जब एक समाचारपत्र के संपादक हुए, तो उन्होंने अपना पहला लेख मि. शास्त्रीजी के विषय में लिखा, क्योंकि शास्त्री पर लेख लिखना आसान भी था और प्रारंभ भी अच्छा था।"

इसका परिणाम यह हुआ कि शास्त्रीजी के विषय में एक अत्यन्त भ्रमात्मक धारणा साधारण जनता के मन में बैठ गयी है। पिछले चौदह वर्षों में इन पंक्तियों के लेखक को शास्त्रीजी से मिलने और वार्तालाप करने का सौभाग्य कितनी ही बार प्राप्त हुआ है, पत्र-व्यवहार भी बहुत दफे हुआ है, दो तीन दिन साथ ठहरने का मौक़ा भी मिला है और इसलिए शास्त्रीजी के स्वभाव को निकट से अध्ययन करने के अनेक अवसर उसे मिल चुके हैं और अपने अनुभव के आधार पर वह कह सकता है कि महात्मा गांधी को छोड़कर शास्त्रीजी जैसा

सहृदय और संस्कृत व्यक्ति भारतवर्ष में शायद ही कोई दूसरा निकले ।

सवसे बड़ी खूबी शास्त्रीजी के चरित्र में यह है कि वे अपनी ग़रीबी के दिनों को अब तक नहीं भूले । शास्त्रीजी को अपने वे दिन अब भी याद हैं, जब कि उन्हें विद्यार्थी-जीवन में छात्रवृत्ति मिलती थी और उसमें से फ़ीस देने के बाद उनके पास महीने भर गुज़ार करने के लिए सिर्फ तीन रुपये बच जाते थे ! सुना है कि एक बार शास्त्रीजी की पूज्य माँ को किसी पड़ोसिन ने कच्चे आम भेंट में भेजे थे । शात्रीजी की माँ उनका अचार बनाना चाहती थी, पर उनके पास पैसा भी न था कि वे नमक ख़रीद सकें । नमक-कर की निष्ठुरता का वर्णन करते हुए शास्त्रीजी ने यह करुणाजनक कहानी व्यवस्थापक सभा की एक स्पीच में कह सुनायी थी । इससे उनकी निर्धन अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । शास्त्रीजी अपनी ग़रीबी को नही भूले और आज भी वे ग़रीब ही हैं ।

माननीय मि. नटेशन की साठवीं वर्षगांठ के अवसर पर जो पत्र मि. शास्त्री ने उनके लड़के के पास भेजा था, उसमें उन्होंने अपनी पूज्य माताजी का ज़िक्र बड़े मधुर शब्दों में किया था--

"प्रत्येक आदमी अपनी माता के विषय में लिखते हुए यह अवश्य कहता है कि मेरी जैसी माता न किसीके थी, न है और न हो ही सकती है । यदि आपके पूज्य पिता मि. नटेशन इस तरह का दावा अपनी माताजी के विषय में पेश करें तो मैं उनसे

झगड़ा नहीं करूँगा। हाँ, सिर्फ इतना ज़रूर कहूँगा कि मेरी पूज्य माताजी ऐसी ही थीं। इन दोनों माताओं को--नटेशन की माता को और मेरी माता को--अपने लड़कों की वजह से जितने कष्ठ उठाने पड़े, उतने कष्ठ उनकी स्थिति की स्त्रियों को प्राय: कम ही उठाने पड़ते हैं। ग़रीबी की वजह से उनकी कठिनाइयों तथा अभावों में और भी वृद्धि हो गयी थी। इन दोनों माताओं ने हम लोगों को कभी भी पूरा-पूरा हाल उन तकलीफों का नहीं बतलाया, जो बचपन में हम लोगों को कुछ आराम से रखने तथा पढ़ाने-लिखाने के लिए उन्हें उठानी पड़ी थीं। तुम्हारे पिता ने और मैंने साथ-साथ बैठकर कितनी बार उन अज्ञात कष्ठों की कल्पना की है, जो हम दोनों की माताओं को सहने पड़े थे और ऐसा करते हुए हम दोनों सिसकी भरने लगे हैं। क्या सचमुच हम दोनों वैसे कृतघ्न थे, जैसे कि दीख पड़ते हैं ? पर बात तो दर-असल यह है कि यदि हमको बारह जीवन भी मिलते, तब भी हम अपनी माताओं के प्रति उतनी कृतज्ञता प्रकट नहीं कर पाते, जितनी वे अधिकारिणी हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि ये दोनों माताएँ अधिक दिन जीवित रहीं और उन्होंने हम दोनों को पहले की अपेक्षा अधिक संपन्न दशा में देखा। क्या उन दिनों बुढ़ियाओं ने अपने पिछले दिनों में आपस में बातचीत करते हुए निजी तौर पर यह न कहा होगा—'हमारे लड़के आख़िर उतने बुरे तो न निकले, जितने हमने सोचे थे ?' क्या ही अच्छा होता, यदि उन्होंने आपस में ऐसी बात कही होती।"

यदि शास्त्रीजी चाहते तो उच्च से उच्च सरकारी पद प्राप्त करना उनके लिए कोई मुश्किल बात न होती, पर देशहित के सामने उन्होंने स्वार्थ का सदा ही बलिदान किया है। शास्त्रीजी को 'भारत सेवक समिति' के लिए जितना परिश्रम करना पड़ा था, उसके विषय में 'जन्मभूमि' के संपादक डा. पट्टाभि सीतारामय्या ने लिखा था—

"हम जानते हैं कि शास्त्री ने अपने ऊपर जान-बूझकर लिये गये दारिद्रय-व्रत तो किस प्रकार निबाहा। कभी वे दिन भी थे, जब 'भारत सेवक समिति' के लिए एक-एक रुपया इकट्ठा करने में उन्हें अपने रक्त की एक-एक बूँद ख़र्च करनी पड़ती थी। सौभाग्य से अब वे दिन बीत गये और लौटनेवाले नहीं।"

शास्त्रीजी को भारत सरकार के प्रतिनिधि बनकर विदेशों में जाते हुए देखकर साधारण जनता यह अनुमान करने लगती है कि शास्त्रीजी सदा से ही सरकार के कृपापात्र रहे हैं। यह बात बिलकुल गलत है। शास्त्रीजी को खुफ़िया पुलिसवालों ने बहुत काफी तंग किया है। इस विषय के अपने अनुभव सुनाते हुए उन्होंने कहा था—

"जब मैं सन् 1930 में डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटियों का संगठन करने के लिए भिन्न-भिन्न ज़िलों में घूमता था, उन दिनों भारत के राजनैतिक वायुमंडल पर ऐसा तुषार पड़ा हुआ था, खुफ़िया पुलिस इतनी अधिक व्यग्र थी और सरकार की दमन-नीति इतने ज़ोरों पर थी कि कितनी ही जगहों पर तो पब्लिक मीटिंग के लिए आदमी इकट्ठा करना मुश्किल

हो जाता था। 'अरे, अभी नहीं, अभी नहीं'—लोग यही कहते हुए सुनाई देते थे। एक घटना मुझे याद पड़ती है। एक उच्च पदाधिकारी थे, जो नौकरी छोड़कर शीघ्र ही पेंशन लेनेवाले थे। वे एक बार रात को बारह बजे आकर मुझसे मिले। जब मुझे इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ तब उन्होंने कहा, "भाई साहब, मैं तीन चार दिन से तुमसे मिलना चाहता था, पर इस जगह तो झुंड के झुँड खुफिया पुलिसवाले मौजूद हैं और मुखबिरों की भी भरमार है। आता तो कैसे आता? अब मेरे पेंशन के दिन नज़दीक हैं, साथ ही मेरे बहुत-से बाल-बच्चे भी हैं। मैं यह नहीं चाहता कि 'भारत सेवक समिति' के किसी मेंबर की वजह से मैं घर घसीटा जाऊँ।"

सन् 1918 में शास्त्रीजी ने कौंसिल में भाषण देते हुए कहा था—

"श्रीमान इस बात पर मुश्किल से विश्वास करेंगे, पर है यह बिलकुल सत्य कि दो तीन वर्ष तक तो यह हालत रही कि खुफिया पुलिसवाले, जब तक मैं घर में रहता तब तक मेरे घर के द्वार पर बैठे रहते और ज्यों ही घर से बाहर निकला त्यों ही पीछा करने लगते थे। अगर मैं इक्का किराये करता तो वे भी दूसरा इक्का लेकर मेरा पीछा करते। पूछताछ करके वे पता लगा लेते थे कि मैं कहाँ जा रहा हूँ और जहाँ मैं जाता, वहीं वे भी जा पहुँचते थे। आश्चर्य की बात यह थी कि यदि उनको कोई तेज़ इक्का न मिलता तो वे मेरे इक्केवाले को किसी तरह समझा देते थे कि वह अपने इक्के को तेज़ न हाँके।

"एक बार कोयम्बत्तूर में इन अत्याचारी खुफ़िया पुलिस-वालों ने प्रत्येक इक्केवाले और गाड़ीवाले से कह दिया कि वे मुझे न बिठलावें। मुझे एक ज़रूरी काम के लिए जाना था और खुफ़िया पुलिसवाले अपने दोपहरी के आराम में खलल नहीं डालना चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि मैं अपने स्थान पर न पहुँच सका ····माई लार्ड, कभी कभी तो ये खुफ़िया पुलिसवाले कुछ दूसरे ही उपायों का अवलंबन करते हैं, जिससे हम लोगों को पता लगता है कि अपने ही देश में हमें किस प्रकार शंका की दृष्टि से देखा जाता है, और सो भी किस अपराध के लिए? स्वदेश से प्रेम करने के कारण! एक बार की मुझे याद है कि रेल्वे पुलिस ने मुझे मामूली पुलिस के सुपुर्द कर दिया। हम लोग गुलामों की तरह सुपुर्द किये जाते हैं। एक मर्तबा बड़ी दिल्लगी रही। एक आदमी आया, उसने मुझे दिखाकर मामूली पुलिस के हवाले कर दिया। दुर्भाग्यवश मैं उस वक्त भीड़-भाड़ में उन आदमियों के बीच जो मुझसे कम अपराधी थे, गुम हो गया। पुलिसवालों ने मुझे तो न पहचान पाया और गलती से मेरे एक मित्र को मेरी जगह समझ लिया। नतीजा यह हुआ कि जो आदमी मेरे पीछे लगे फिरने चाहिए थे, वे उनके पीछे लग गये। मैंने समझा कि चलो, मुझे छुटकारा मिला। पर पीछे मेरे मित्र ने मुझे बतलाया कि उन्होंने पुलिस-विभाग के अध्यक्ष से शिकायत कर दी है। परिणाम यह हुआ कि पुलिसवालों ने अपना पुराना शिकार फिर पहचान लिया।"

सन् 1918 तक यह हालत थी कि शास्त्रीजी के यहाँ कोई आदमी आता था तो उसका नाम पुलिसवाले लिख लेते थे और उसे भी तँग करते थे। अब शायद यह स्थिति नहीं होगी, क्योंकि शास्त्रीजी वृद्ध हो गये हैं और भागकर कहीं जा भी नहीं सकते। सरकार इस बात को अच्छी तरह जानती है कि शास्त्रीजी उन आदमियों से नहीं हैं, जो खरीदे जा सकते हैं। समय-समय पर उन्होंने सरकार को कड़ी से कड़ी बातें सुनायी हैं। उनकी रौलट बिलवाली स्पीच अब भी लोगों के कानों में गूंज रही है।

"You may enlarge your councils, you may devise wide electorates, but the men that will then fill your councils will be toadies, timid men, and the bureaucracy armed with these repressive powers will reign unchecked under the appearance of a democratic Government.

शास्त्रीजी के शब्द चिरस्मरणीय हैं। उनकी बंगलोरवाली स्पीच भी बड़ी भावपूर्ण थी। इसके बाद भी जब जब अवसर आया है शास्त्रीजी ने सरकार को खोटी-खोटी सुनाने में कसर नहीं छोड़ी।

लिबरल पार्टी में यदि कोई नेता ऐसा है, जिसकी सहानुभूति उग्र और प्रगतिशील दलवालों से है तो वे मि. शास्त्री ही हैं। कितने ही लोगों को इस बात की आशंका रही है कि मि. शास्त्री भीतर ही भीतर स्वयं गरम दल के पक्षपाती हैं। अपने एक भाषण में जो सन् 1923 में पूना में दिया था, उन्होंने कहा था—

"मि. गोखले को अन्त तक यह आशंका बनी ही रही—पूर्णरूप से इसे उन्होंने कभी भी नहीं छोड़ा—कि राजनीति में मेरा झुकाव गरम दलवालों की ओर है और मैं छिपा हुआ गरम दलवाला हूँ।"

लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर गरम दल और नरम दल का मेल कराने में शास्त्रीजी का ज़बरदस्त हाथ था और अब भी कोई-कोई लिबरल कार्यकर्ता शास्त्रीजी पर व्यंग्य किया करते हैं कि यह तुम्हारी ही करतूत थी, अब तुम्हीं उसका फल भोगो !

बात दर असल यह है कि शास्त्रीजी के जीवन में नरमी और गरमी के ज्वार-भाटे आया करते हैं। अपने 6-7-32 के एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"मैं अपनी नरमी के लिए बिलकुल शर्मिन्दा नहीं हूँ, लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब कि मैं यह सोचने लगता हूँ कि मुझे अपनी नरमी के इस गुण को भूल जाना चाहिए, और वर्तमान मौक़ा ऐसा ही इंग्लैण्ड के अनुदार दलवालों ने हम लोगों को बेतरह धता बतायी है। मेरा हृदय तो कहता है—'छोड़ो इस झंझट को'। लेकिन मेरा मस्तिष्क मुझे सावधान करता हुआ कहता है—'भाई ! असहयोग तो तुम्हारी नीति के विरुद्ध है। लोकप्रियता की कुछ परवा न करो और इस कठिन परिस्थिति में से जो कुछ निकल सके, उतना ही हित स्वदेश के लिए कर लो।' पर मेरी सहज बुद्धि मुझसे कान में कहती है—'क्यों ज़्यादा फ़िक्र करते हो ?

तुम्हें पूछता ही कौन है ? तुम क्या करते हो अथवा क्या नहीं करते, इसकी सुई की नोक के बराबर भी परवा कौन करता है ?

इस पत्र से शास्त्रीजी की विनम्रता पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। शास्त्रीजी जैसा महापुरुष तो अपने मन को समझाता है, 'तुम हो किस खेत की मूली ? तुम्हें पूछता ही कौन है ?' और हम लोगों का जिनमें उनकी योग्यता तथा सेवा का सहस्रांश भी नहीं है, दिमाग आसमान पर ही बना रहता है !

यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषणशक्ति के ख्याल से शास्त्रीजी की गणना संसार के इने-गिने व्याख्यानदाताओं में की जाती है। अंग्रेज़ी में ऐसे धाराप्रवाह भाषण देनेवाले व्यक्ति संसार में पाँच-छः भी मुश्किल से मिलेंगे। संसार की किसी भी सुसंस्कृत से सुसंस्कृत मंडली को शास्त्रीजी अपनी भाषणशक्ति से प्रभावित कर सकते हैं। 'लीग आफ नेशन्स' में जिस वर्ष आप सम्मिलित हुए थे उस वर्ष विशेषज्ञों ने आपके भाषण को सर्वोत्तम बतलाया था। एक प्रसिद्ध लेखक ने अपनी पुस्तक 'दी सेकेंड ईयर आफ़ दी लीग' में लिखा था—

"भाषणशक्ति के खयाल से विजय भारतवर्ष के द्वितीय प्रतिनिधि अर्थात् मि. शास्त्री को ही मिली।"

'डेली न्यूस' ने शास्त्रीजी के भाषण के विषय में लिखा था—

"The highest example of finished oratory it has listened to, since it opened a week ago."

आस्ट्रेलिया के प्रधान मंत्री मि. ह्यूजेज़ ने यहाँ तक कहा था—"मि. शास्त्री हमें शुद्ध अंग्रेजी बोलना सिखा सकते हैं।" और वाशिंगटन परिषद में आपके व्याख्यानों की ऐसी धाक जमी कि अनेक पत्रों के संवाददाताओं को यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि अंग्रेज़ तथा अमेरिकन प्रतिनिधियों में इतनी अच्छी अंग्रेज़ी कोई नहीं बोल सका।

शास्त्रीजी से बातचीत करने में बड़ा आनन्द आता है। महामना मालवीयजी जब बात करते हैं तो उसमें उपदेशों की भरमार रहती है—उनका निष्कलंक पवित्र जीवन स्वयं सबसे बड़ा उपदेश है। मि. चिन्तामणि से बातचीत करना ख़तरे से ख़ाली नहीं। जैसे कि कोई चतुर शिकारी मौक़ा देखकर खरगोश पर शिकारी कुत्ते छोड़ देता है, वैसे ही चिन्तामणिजी तथ्यों और संख्याओं का बवंडर छोड़कर बातचीत करनेवाले को चकित कर देते हैं। महात्मा गांधी से बातचीत करते हुए उनका महत्व कभी नहीं भुलाया जा सकता, यद्यपि वे अपनी हास्य-प्रवृत्ति से दर्शक को निश्चिन्त करने में कोई कसर नहीं उठा रखते पर शास्त्रीजी की बातचीत इन सबसे निराली है। उसका वायुमंडल सर्वथा घरेलू होता है। उसके माधुर्य के स्वाद को वे ही लोग जानते हैं, जिन्होंने उसकी कभी अनुभूति की है।

एक बार मुझे मज़ाक सूझा। मैंने धृष्टतापूर्वक शास्त्रीजी से कहा "शास्त्रीजी, अब मैंने विदेश-यात्रा के लिए सारा साजो-सामान इकट्ठा कर लिया है।" शास्त्रीजी ने पूछा—"क्या क्या?" मैंने उत्तर दिया, "एक तो अब की बार सेफ्टी रेज़र

ख़रीद लिया है।" शास्त्रीजी ने कहा—"तुमने मेरा क़िस्सा सुना है, मैंने पहले सेफ़्टी रेज़र कब और कैसे ख़रीदा था !" मैंने कहा—"कृपया सुनाइये ।" शास्त्रीजी ने कहा—"भारत सेवक समिति" में प्रवेश करने के पहले और उसके कुछ दिनों बाद तक भी मैं दाढ़ी बनाने के मामले में बिलकुल लापरवाह रहा करता था। लोगों से मिलने में भी संकोच करता था। यही ख़याल करता था 'हुँ, कौन रोज़-रोज़ दाढ़ी छीलता फिरे ।' एक बार जब मैं पूना में था, मि॰ गोखले ने मुझे बुला भेजा। सेवा में हाज़िर हुआ । मि. गोखले ने कहा—'एक बड़ा ज़रूरी काम है, वह यह है कि आप बाज़ार जाकर एक सेफ़्टी रेज़र ख़रीद लाइये।' मैंने पूछा—'अभी ज़रूरत है ? तो अभी लाता हूँ ।' मि. गोखले ने कहा—'अब की बार के लिए तो मैंने इन्तज़ाम कर लिया है, यानी आपकी हज़ामत बनाने के लिए नाई बुला भेजा है ? बात यह है कि आज बंबई के गवर्नर पूना आनेवाले हैं, उनसे आपका परिचय कराना है और आप तो बाल बनाने से रहे ! इसलिए मैंने अब की बार तो नाई को बुला लिया है। इसके बाद आप अपने लिये सेफ़्टी रेज़र ख़रीद लीजिये।' इस किस्से को सुनाते हुए शास्त्रीजी की मधुर मुस्कुराहट दर्शनीय थी। फिर आप बोले —"मि. गोखले कभी कभी कहते थे शास्त्री आदमी तो अच्छा है, पर नियमानुसार वह अपने बाल नहीं बनाता !"

गप लड़ाने का शास्त्रीजी को शौक़ है । अपनी बातें बड़े मजे में सुनाते हैं और दूसरों की बड़े धैर्य के साथ सुनते हैं ।

क्या मजाल कि एक भी अपशब्द अपने विरोधियों के विषय में उनके मुख से निकले! शास्त्रीजी छोटे से छोटे कार्यकर्ता के व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं! अपना मज़ाक खुद उड़ाने में संकोच नहीं करते और उनकी किसी भी बात से दंभ या बड़प्पन की बू नहीं आती। इन्हीं कारणों से शास्त्रीजी का संभाषण इतना आकर्षक बन गया है।

संभाषण तक पत्रलेखन दोनों कलाएँ एक दूसरे से मिलती जुलती हैं और दोनों के लिए ही समान गुणों की आवश्यकता है, क्योंकि पत्रलेखन भी तो आखिर दूर बठे हुए आदमी से कागज़-क़लम द्वारा बातचीत ही है। हमारे पास शास्त्रीजी की क़रीब चालीस चिट्टियाँ सुरक्षित हैं। प्रत्येक पत्र सुसंस्कृति, सद्‌भाव तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार का नमूना है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे कुछ हिन्दी के लेखक-बंधु शास्त्रीजी से पत्रलेखन कला की शिक्षा प्राप्त करें! हमारे यहाँ कितने ही पत्रलेखक ऐसे हैं, जिनकी चिट्ठियाँ वज्रपात से कम भयकर नहीं होतीं। लिफ़ाफे पर उनके हस्ताक्षर देखकर रूह कांपने लगती है और यद्यपि ईश्वर-प्रार्थना में हमारा विश्वास नहीं है, तथापि उस समय बरबस ये शब्द मुँह स निकल ही जाते हैं— "या खुदा! इस आफ़त से बचा।" पर शास्त्रीजी के पत्रों का क्या कहना!

एक बार शास्त्रीजी शिक्षकों की मीटिंग में सभापति हुए। मैंने लिख भेजा कि मैं भी शिक्षक रह चुका हूँ। यह मेरा पुश्तैनी पेशा है, क्योंकि मेरे पूज्य पिताजी ने 55 वर्ष

तक ग्राम-स्कूलों में अध्यापक का कार्य किया है, पर मैंने तो तंग आकर इस पेशे को छोड़ दिया। शास्त्रीजी ने पत्रोत्तर में लिखा—

"किसी शिक्षक को शर्मिंदा होने की ज़रूरत नहीं। हाँ, यदि वह अपना पेशा ईमानदारी के साथ न कर सका हो, तब तो बात ही दूसरी है। यहाँ मेरे अब्राह्मण, अमित्र मुझपर व्यंग करते हुए हमेशा कहा करते हैं—'अरे। शास्त्री तो भूतपूर्व स्कूल-मास्टर हैं!' और इस प्रकार वे शिक्षक-वृत्ति के प्रति अपनी घृणा प्रकट करते हैं, पर मुझे सदा ऐसा प्रतीत होता है कि इस वाक्य में लज्जाजनक शब्द 'भूतपूर्व' है। मैंने शिक्षा का उच्च कार्य छोड़ा ही क्यों? और मैं कभी कभी सोचता हूँ कि क्या शिक्षक का कार्य छोड़ने के बाद मैंने उससे कोई अच्छा काम भी किया है?"

अपने घोर विरोधियों को 'अमित्र' कहने में शास्त्रीजी ने अपनी स्वभावगत कोमलता का ही परिचय दिया है।

एक बार बहुत दिनों तक मैं उनकी सेवा में पत्र नहीं भेज सका। शास्त्रीजी ने उसका उलाहना बड़े मधुर ढंग में दिया था—

"मुझे अब भी आशा है कि आपका पत्र आता होगा। शायद आप मेरे लिए परामर्शों से युक्त एक लंबी चिट्ठी तैयार कर रहे हैं, इसलिए उस पत्र का मैं स्वागत करूँगा।"

यह पत्र शास्त्रीजी ने अफ्रीका में भारतीय एजेण्ट बनकर जाने से पहले लिखा था। स्थानाभाव के कारण हम शास्त्रीजी

के पत्रो के अंश यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते । हमारे जैसे साधारण कार्यकर्ता के प्रति भी इन पत्रों में सौहार्द तथा प्रेम प्रकट किया गया है, उससे शास्त्रीजी का महत्व ही सिद्ध होता है ।

सार्वजनिक जीवन एक खतरनाक चीज़ है । कितने ही मौक़े ऐसे आते हैं, जब अपने विरोधी पर कसकर दो हाथ जमाने की इच्छा अत्यन्त प्रबल हो जाती है, जब व्यग करने में आनद आता है; पर इन तीस वर्षों के सार्वजनिक ज़ीवन में शास्त्रीजी ने अपनी सुसंस्कृति को कभी हाथ से नहीं जाने दिया । विरोधियों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति उन्होंने अपने पास भी नहीं फटकने दी । नरम दलवालों पर प्राय: यह आक्षेप किया जाता है कि वे अपनी आर्थिक उन्नति या पद-लोलुपता के कारण सरकार के साथ सहयोग करते हैं, पर शास्त्रीजी इन प्रलोभनों से सदा ही दूर रहे हैं । अफ़्रीका भी वे सरकारी एजेण्ट बनकर महात्माजी की प्रेरणा से ही गये थे ।

शास्त्रीजी में लोकप्रियता की कभी परवा नहीं की । यदि उनकी अन्तरात्मा ने कभी समझा कि गलत रास्ते पर जा रहा है तो उसका उन्होंने स्पष्टतया विरोध ही किया है । इतने लंबे सार्वजनिक जीवन में अपने व्यक्तित्व की रक्षा इतने माधुर्य के साथ करने में बहुत कम लोग समर्थ हुए होंगे । पर अब ज़माना बदल चुका है । देश को इस समय न अंग्रेज़ी भाषण-शक्ति की ज़रूरत है और न सुसंस्कृतिमय सहनशीलता की । देश के नवयुवक अपने नेताओं में क्रांतिकारी मनोवृत्ति चाहते हैं और शास्त्रीजी उससे कोसों दूर हैं । नवयुवक समझते हैं कि

देश के स्व:धीन हो जाने पर शास्त्रीजी जैसे सुसंस्कृत नेताओं का उपयोग हो सकता है, पर वर्तमान संग्राम के लिए अनुपयुक्त हैं। कुछ भी क्यों न हो, शास्त्रीजी ने अपना कर्तव्य ईमानदारी के साथ निभाया है। जब स्वाधीनता-संग्राम सफलतापूर्वक समाप्त हो जाएगा, आजकल की राजनैतिक दलबंदियाँ खतम हो जाएँगी और लोग अपने-अपने राजनैतिक विरोधियों के चरित्र पर न्याय तथा उदारतापूर्वक विचार करने बैठेंगे, उस समय उन्हें शास्त्रीजी की देशभक्ति उज्वल एवं असंदिग्ध प्रतीत होगी। शास्त्रीजी इससे ज़्यादा कुछ चाहते भी नहीं।

महाकवि सूरदास

—रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दुओं के स्वातंत्र्य के साथ ही वीर गाथाओं की परम्परा भी काल के अंधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच, वे अपने पराक्रम के गीत किस मुँह से गाते और किन कानों से सुनते? जनता पर गहरी उदासी छा गयी थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली बानी मुरझाये मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवाकर भी हिन्दू जाती अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिरसंचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया, और उसकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार वंश देश में कृष्ण चैतन्य ने किया, उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्यजी ने परम भाव की उस आनन्द-विधायिनी कला का दर्शन कराकर जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेमसंगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गयी।

जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गयी थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की

सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील-कुंजों के बीच फैले मुरझाये मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने बज उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा थी। ये भक्त कवि सगुण उपासना का रास्ता साफ़ करने लगे। निर्गुण उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने में लग गये। इन्होंने भगवान का प्रेममय रूप ही लिया; इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़ किये। आगे जो इनके अनुयायी कृष्णभक्त हुए वे भी उन्हीं वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते तो कृष्ण में ही मिल जाते; पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एकदेशीय था—केवल प्रेम था—पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि-सी उत्पन्न हो रही थी, उसे हटाने में उपयोगी हुआ, मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया—या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

बाल्य काल और यौवन काल कितने मनोहर हैं! उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदासजी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे

हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना कोना वे झांक आये। उक्त दोनों रसों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसीने पूर्णरूप से दिखाया तो सूर ने। उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचनेवाले कवियों के समान गिनाये हुए संचारियों से बंधकर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही लें, अथवा 'भ्रमर-गीत' को ही देखें, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसीको कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टि-विस्तार और किसी कवि का नहीं। बात यह है कि सूर को 'गीति काव्य' की जो परम्परा (जयदेव और विद्यापति की) मिली वह शृंगार की थी। इसीसे सूर के संगीत में भी उसकी प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदासजी वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके

आक्रमण द्वारा 'सायुज्य-मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्तिसाधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं-कहीं संकेत भी किया है, जैसे—

सीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै, हानि भए कुछ सोच न राँचे।
जाय समाय सूर वा निधि में, बहुरि न उलटि जगत में नाँचे॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेमभाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अत. भगवद्भक्ति की साधना के लिये इसी प्रेमतत्व को वल्लभाचार्य ने सामने रखा और उनके अनुयायी कृष्णभक्त कवि इसीको लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोक-पक्ष पर थी, इसीसे वे मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की और -और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यत: प्रयुक्त जान पड़ती है। रतिभाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दांपत्य रति—सूर ने लिये हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रतिभाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्वत: भगवद्प्रेम के अंतर्भूत ही हैं, पर निरूपण-भेद से और रचना-विभाग की दृष्टि से वे अलग रखे गये हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अंतर्गत आएँगे, बाललीला के पद वात्सल्य के अंतर्गत और गोपियों के प्रेम संबंधी पद दांपत्य रति

भाव के अंतर्गत होंगे । हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है ।

कविकर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं— विभाव पक्ष और भाव पक्ष । कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने से समर्थ होती हैं और दूसरी ओर वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है । एक विभाव पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष । कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं । जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है; जैसे, नायिका के रूप या नखशिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है । भाव-पक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है । सूरदासजी ने शृंगार और वात्सल्य, ये ही दो रस लिये हैं । अतः विभाव पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है जो उक्त दोनों रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकता है; जैसे राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेष और चेष्टाएँ तथा करीलकुंज, उपवन, यमुना, पवन, चन्द्र, ऋतु इत्यादि ।

विभाव पक्ष के अंतर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों में लायी जाती हैं—वस्तु रूप में और अलंकार रूप में अर्थात् प्रस्तुत रूप में, और अप्रस्तुत रूप में । मान लीजिये कि कोई कवि कृष्ण का

वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नील वर्ण शरीर को, उसपर पड़े हुए पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोरमुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु रूप में हुआ। इसी प्रकार का ि ास यमुनातट, निकुंज की लहराती लताओं, चन्द्रिका, क ल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभावर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है, तो यह विन्यास अलंकार रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तुविन्यास का जो संकोच 'सूर' की रचना में दिखाई पड़ता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार रूप में लाय हुए पदार्थों के प्राचुर्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाये हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार रूप में लाये हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक रूप योजना या व्यापार योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिये ही होती है, अतः इसमें लाये हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिए जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापार के समान हों। सूर अलंकार-योजना के लिये अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाये हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि के लिए रूपों और व्यापारों के संबंध में सूर की पहुँच का विचार करते हैं, तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिये हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा

के अंगप्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुनातट, वंशीवट, निकुंज, गोचारण, वनविहार, बाललीला, चोरी, नटखटी तथा कवि-परिपाटी में परिगणित ऋतुसुलभ वस्तुओं तक ही अपने को सीमित रखा है।

इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना 'गीति काव्य' है, जिससे मधुर ध्वनिप्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफ़ी होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी के मानस के समान सूरसागर प्रबंधकाव्य नहीं है, जिसमें कथाक्रम से अनेक पदार्थों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती चली चलती है। सूरदासजी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकर पद कहे हैं, एक पद दूसरे पद से संबद्ध नहीं है। प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसीसे किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते हैं, तो एक ही घटना से संबंध रखनेवाली एक ही बात भिन्न-भिन्न रागिनियों में कुछ फेरफार के साथ बहुत-से पदों में मिलती हैं जिससे पढ़नेवाले का जी कभी-कभी ऊब-सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबंधकाव्य में नहीं होती।

परिमिति का दूसरा कारण पहले ही कहा जा चुका है कि सूरदासजी ने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल वृत्ति और यौवन वृत्ति। इन दोनों के अंतर्गत आये हुए व्यापार, क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में ही हैं। प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्नविस्तार नहीं है, जिसके भीतर नयी-नयी वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोकसंघर्ष से उत्पन्न विविध

व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नही है; बालक्रीड़ा, प्रेम के रंगरहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गयी है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तुगांभीर्य नहीं है जो गोस्वामीजी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर, दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच में पड़ी हुई थी। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोगवर्णन, वियोग वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिये कि थोड़ी देर के लिए अंतर्धान हो जाते हैं। बस, गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोगदशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरहवर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर, जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबंधकाव्य नहीं है जिसके वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल

बालचरित्र का प्रभाव नंद, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता है। सूर का बाललीला वर्णन ही पारिवारिक जीवन से संबद्ध है। कृष्ण के छोटे-छोटे पैरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटाकर भागने या इधर उधर नटखटी करने पर नंद बाबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जनसमूह के भीतर आनंद का संचार करती दिखायी गयी हैं। इसी बाललीला के भीतर कृष्णचरित का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, कालीनाग को नाथकर लोगों का भय छुड़ाना। इन्द्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद को वरुणलोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेमलीला आरंभ होने के पीछे आया है, पर उससे संबद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित्र में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस ओज और उत्साह से तुलसी-दासजी ने मारीच, ताड़का, खर-दूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदासजी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इंद्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोकशत्रु या लोकपीड़क रूप में नहीं।

रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चबा-चबाकर उनकी हड्डियों का ढेर लगानेवाले या स्त्री चुरानेवाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता, उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है। शक्ति, शील और सौंदर्य—भगवान की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौंदर्य तक ही अपने को सीमित रखा है, जो प्रेम को आकर्षित करता है। शेष दो विभूतियों को भी लेकर भगवान के लोकरंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास ने की। श्रद्धा या महत्वबुद्धि पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित का जो थोड़ा बहुत संबंध दिखाई पड़ता है, उसका सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेमपक्ष; वह ऐकांतिक है। सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञानगर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंग का नहीं। सूरदास सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञान मार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं; साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्तिमार्ग या प्रेममार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाववाले कर्म और लोक-व्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं। असुरों के अत्याचार से दुखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है। इसी प्रकार कागासुर, बकासुर, शकटासुर आदि को हम लोकपीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के वध पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर उक्त कर्म के लोकव्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंदबधाई, बालक्रीडा, मुरली की मोहिनी तान, रास नृत्य, प्रेम के रंगरहस्य और संयोग वियोग की नाना दशाओं में लगा है उतना ऐसे प्रसगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरितमानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते-से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामीजी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है, जिसपर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गोचारण और रासलीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह।

सूरदासजी को मुख्यतः श्रृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी एकाध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है; जैसे दावानल के इस वर्णन में भयानक रस का—

भहरात झहरात दावानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन धरनि आकास चहुँ पास आयो ।
बरत बन बाँस थरहत कुस कांस, जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो ।
झपटि झपटत, लपट, फूल फूटत पटकि चटकि लटलटकि द्रुम फटि नवायो ।
अति अगिनि झार भंभार धुँधार करि उचति अंगार झंझार छायो ।
बरत बनपात, भहरात, झहरात, अररात तरु महा धरनी गिरायो ।।

पर, जैसा कहते आ रहे हैं, मुख्यता शृंगार और वात्सल्य की है । इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों रसों के वे सबसे बड़े कवि हैं ।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई । अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए जिनके कारण हिन्दी साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है । ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है । पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं । यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी । सूरदास किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा जान पड़ता है, चलनेवाली परंपरा का मूल रूप नहीं ।

यदि भाषा को लेकर देखते हैं, तो वह व्रज की चलती बोली होने पर भी साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो

और प्रांतों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्यभाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिये हुए हैं। 'जाकों', 'तासों', 'वाकों', चलती व्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जेहि', 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक हैं, पर व्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे, 'जाहि लगे सोई प जाने प्रेम बान अनियारो।' 'गोड' 'आपन', 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाये जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब शब्द एक व्यापक काव्य भाषा के अस्तित्व की सूचना देते हैं।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते हैं जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है। कृष्णजन्म की आनंदबधाई क उपरांत ही बाललीला का आरंभ हो जाता है। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, कवि ने बालकों की अंतःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥

बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं है जितना बड़ा सूरसागर में है। दो चित्र देखिए—

1. **सोभित कर नवनीत लिये।**

   घुटुरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।

2. **सिखवत चलत, जसोदा मैया।**

   अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ ॥

हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे हैं—

खेलत में को काको गोसैंयाँ।

हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ ॥

जाति पांति हमतें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।

अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुमारे हैं कछु गैयाँ ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बालचेष्टाओं का काव्यविधान में क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलम्बन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय। अत: ये चेष्टाएँ अनुभाव के अंतर्गत आती हैं; पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती हैं इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भावविधान के ही भीतर है। उन्हें अलंकारविधान के

भीतर घसीटकर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ में ठीक नहीं ।

बाललीला के आगे फिर उस गोचारण का मनोरम दृश्य सामने आता है जो मनुष्य जाति की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों में काव्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश यूनान) के 'पशु चारण काव्य' (Pastoral poetry) का मधुर संस्कार यूरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही आता है। कवियों को आकर्षित करनेवाली गोपजीवन की सबसे बड़ी विशेषता है, प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य और व्यवसाय आदि जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरंभ में दिलीप को नंदिनी के साथ बन-बन फिराकर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदासजी ने यमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। यथा --

मैयारी ! मोहि दाऊ टेरत।

मोकों बनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

यमुना तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर उधर दौड़ते हैं। कभी कोई चिल्लाता है--

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गईं।

धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दईं।

'जे वृषभान दई' कहकर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नये खूँटे पर आयी हुई गायें बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसीसे वृषभानु की दी हुई गायें चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और कुछ दूसरी गायें भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।

वृन्दावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेमव्यवहार का अत्यन्त स्वभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसीकी रूपचर्चा सुन या अकस्मात किसी एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफ़ान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लंबी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोकबंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाये गये हैं। जिस प्रकार के स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंग्रेज़ कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूपलिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बालक्रीडा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीडा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ़ कहा है— लरिकाई को प्रेम कहो, अलि कैसे छूटे ?' केवल एक साथ रहते रहते भी दो प्राणियों में स्वभावत: प्रेम हो जाता है कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुन्दरता में भी अद्वितीय थे अत: गोपियों के प्रेम का क्रमश: विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है बालक्रीडा इस प्रकार क्रमश: यौवन-क्रीडा के रूप में परिणत होती गयी है कि संधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरंभ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है—

(क) खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।

गय श्याम रवितनया के तट, अंग लसति चंदन को खौरी।
औचक ही देखो तहँ राधा, नैन बिसाल, भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी।।

(ख) बूझत श्याम 'कौन तू गोरी !

कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखो नाहीं कहूँ व्रज खोरी।
'काहे को हम व्रज तन आवति ? खेलति रहति अपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
'तुम्हारी कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ सँग मिली जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी।।

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गयी है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरंभ उभय पक्ष में सम है। आगे चलकर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तांत सुनकर वे आँखों में आँसू भर लेते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालंभ दिया है उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नही मिलता। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का संपूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और वह संपूर्ण क्रीड़ा संयोग पक्ष है। उसके अंतर्गत विभावों की परिपूर्णता कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कारपूर्ण वर्णन में तथा वृन्दावन के करील कुँजों, लोनी लताओं हरे-भरे कछारों, खिली हुई चाँदनी, कोकिल कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभवों और संचारियों का इतना बाहुल्य और कहाँ मिलेगा ? सारांश यह कि संयोग सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ाविधान हो सकते हैं वे सब सूर ने लाकर इकट्ठे कर दिये हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गयी हैं—जैसे, कृष्ण के कंधे पर चढ़कर फिरने का राधा का आग्रह जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर प्रतीत होगा।

सूर का संयोगवर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें

अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता। राधा कृष्ण के रंगरहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय भंडार प्रतीत होता है। प्रेमोदयकाल की विनोदवृत्ति और हृदय प्रेरित हावों की छटा चारों ओर छिटकी पड़ती है। राधा और कृष्ण का गाय चराते समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने-जाने भी लगे हैं, इसलिए ऐसी-ऐसी बातें नित्य न जाने कितनी हुआ करती हैं—

1. **धनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।**
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहिनि मुख अति ही छबि बाढ़ी॥

2. **तुम पै कौन दुहावै गैया ?**
इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया॥

यशोदा के इस कथन का कि बार-बार तू यहाँ क्यों उत्पात मचाने आती है, राधा जो उत्तर देती है उसमें प्रेम के आविर्भाव की कैसी सादी और भोली-भाली व्यंजना है—

बार बार ह्याँ जनि आवै।
'मैं कहा करौं सुतहिं नहिं बरजति, घर तें मोहिं बुलावै।
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान।
छोह लहत मोकों सुनि बानी, महरि! तिहारी आन'॥

कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था वैसा और किसी

कवि को नहीं। इनका सारा संयोगवर्णन लंबी चौड़ी प्रेमचर्या है, जिसमें आनंदोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है। रासलीला, दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसीके अंतर्भूत हैं। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेमचर्या दिखाने का प्रयत्न किया; पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेकरूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।

आलंबन की रूपप्रतिष्ठा के लिए कृष्ण के अगप्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रयपक्ष में नेत्रव्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियाँ बहुत अधिक हैं। रूप को हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही हैं। इससे हृदय की सारी आकुलता, अभिलाषा और उत्कंठा का दोष इन्हीं रूपवाहकों के सिर मढ़कर सूर ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिए बड़े अनूठे ढंग निकाले हैं। कहीं इनकी न बुझनेवाली प्यास की परेशानी दिखायी है, कहीं इनकी चपलता और निरंकुशता पर इन्हें कोसा है। पीछे बिहारी, रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया, पर यहाँ तो भंडार भरा हुआ है। इस प्रकार के नेत्रव्यापार वर्णन आश्रयपक्ष और आलंबनपक्ष दोनों में होते हैं। सूर ने आश्रयपक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किये हैं, जैसे—

मेरे नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नीर नैनन के सजनी मूल पतार गई।।

विगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं सजनी, सब तन पसरि छई॥

आलंबनपक्ष में सूर के नेत्रवर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से भरी रूपचित्रण की शैली पर ही है, जैसे—

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिवदल, इंदीवर, शतदल, कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि वे विगसत, ये विगसत दिनरात।
अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय।
मनौ सरसवति गंग जमुन मिलि, आगम कीन्हो आय॥

आलंबन में स्थित नेत्र क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ कही हैं। जैसे सूर ने तो 'अरुन, असित सित झलके' पर गंगा, यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने उसी झलक की यह करतूत दिखायी है—

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।

मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनसे प्रेम की सजीवता टपकती है। यह वह सजीवता है, जो भरे हुए हृदय से छलककर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। गोपियों की छेड़छाड़ कृष्ण ही तक नहीं रहती; उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है।

उन्हें वह मुरली कृष्ण के संबंध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी, प्रेमगर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी संबंधभावना से वे उसे कभी फटकारती हैं, कभी उसका भाग्य सराहती हैं और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

(क) माई री ! मुरली अति गर्व, काहू बदति नहिं आज।
हरि के मुख कमल देखु पायो सुखराज ॥

(ख) मुरली तऊ गोपालहिं भावति ॥
सुन री सखी! जदपि नंदनंदहिं नाना भाँति नचावति।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल कोप नासापुट, हम पर कोप कँपावति।

हृदय के पारखी सूर ने संबंधभावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखलाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़ करने को उनका जी चाहता है। हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी ज़िन्दादिली की क़द्र न की हो। मुरली के संबंध में कहे हुए गोपियों के वचन से मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की संबंधभावना का प्रभाव तथा अत्यन्त अधिक या फालतू उमंग के स्वरूप। मुरली संबंधिनी उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्व का भी मिश्रण है। फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं, जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख

कभी ठोकर खाने पर, कंकड़ पत्थर को दो चार मीठी गालियाँ सुनाती है, कभी रास्ते में पड़ती हुई पेड़ की टहनी पर भ्रूभंग सहित झुँझलाती है और कभी, अपने किसी साथी को यों ही ढकेल देती है —

यह सूचित करने की आवश्यकता तो कदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, दर्शन के लिए आकुल रहना, वियोग में तड़पना आदि गोपियों के पक्ष में जितना कहा गया है, उतना कृष्ण के पक्ष में नहीं। यह यहाँ के शृंगारी कवियों की—विशेषत फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति ही रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेमदशा या कामदशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबंध काव्यों में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता, पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलकता है। वाल्मीकिजी ने रामायण में सीताहरण के उपरांत राम और सीता दोनों के—वियोग दुखवर्णन में प्रायः समान ही शब्द व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरंभ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तर मेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यह बात पायी जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की यही प्रेमदशा या विरहदशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिनमें एक ओर तो अनंत सौन्दर्य की स्थापना की गयी और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया।

पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी या कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम-सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले तक को होली के दिनों में 'कन्हैया' बनने का शौक़ हुआ करता था।

और देशों की फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फ़ारस आदि देशों में, वैसे यूरोप के इटली आदि, काव्य संगीतप्रिय देशों में भी यही पद्धति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की शृंगारी कविता एक प्रेमिका के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्णकथा के प्रभाव से नायक के आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुषों की प्राधान्य वासना अधिक तृप्त हुई। आगे चलकर पुरुषत्व पर इसका कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बहुतेरे शौर्य, पराक्रम आदि पुरुषोचित गुणों से मुँह मोड़ 'चटक मटक लटक' लाने में लगे—बहुत जगह तो माँग, पट्टी, सुरमे, मिस्सी तक की नौबत पहुँची! यूरोप में जहाँ स्त्री प्रधान आकर्षक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उलटा हुआ। वहाँ स्त्रियों के बनाव-सिंगार और पहनावे के खर्च में मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया।

सूर के संयोगवर्णन की बात हो चुकी। इनका विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का

साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। आरंभ वात्सल्य रस के वियोगपक्ष से हुआ है। कृष्ण के मथुरा से लौटने पर नन्द और यशोदा दुखसागर में मग्न हो गये हैं। अनेक दुखात्मक भाव-तरंगें उनके हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नन्द से खीझकर कहती है—

छांड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चोर गह्यौ।
फाटि न गई की वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ।

इस पर नन्द यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

तब तू मारिबोई करति!
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाँड़े भरति।
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति।
कठिन हिय करि यब जो बाँध्यों, अब वृथा करि मरति।

यह 'झुंझलाहट' वियोगजन्य है, प्रेमभाव के ही अंतर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख शांति के भंग का कैसा यथा-तथ्य चित्र है! आगे देखिये गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह मेल कैसा अनूठा उतरा है! यशोदा नन्द से कहती है—

नन्द! व्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राय॥

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है! 'तुम अपना व्रज अच्छी तरह संभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है, मैं तो

जाती हूँ ।' एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो, तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है। इसे भावशबलता कहें या भावपंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य 'नन्द ! व्रज लीजै ठोंकि बजाय' में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनों की मिश्र व्यंजना—जिसे शबलता ही कहने से संतोष नहीं होता—पायी जाती है। शबलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है, पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

ग्वाल सखाओं में भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल और अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होकर कहते हैं—

भए हरि मधुपुरी राजा, बड़े बंस कहाय,
सूत मागध बदत बिरुदहि बरनि बसुद्यौ तात ।।
राजभूषण अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात ।।

वियुक्त प्रिय पुत्र के सुख के अनिश्चय की 'शंका' तक न पहुँचती हुई भावना 'दीनता' और क्षोभजन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से टपक रही है—

संदेसो देवकी सों कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करति ही रहियो ।।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै ।।

कृष्ण राजभवन में जा पहूँचते हैं, यह जानते हुए भी यशोदा के प्रेमपूर्ण हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के सुख का ध्यान जितना वे रखती थीं, उतना संसार में और भी कोई रख भी सकता है। रसमग्न हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर सकता है। केवल उदाहरण की लीक पीटनेवालों के भाग्य में यह बात कहाँ !

आगे चल कर गोपियों की वियोगदशा का जो धाराप्रवाह वर्णन है, उसका तो कहना ही क्या है ! न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिन सकता है ? संयोग और वियोग दो अंग होने से, शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसीसे वह रसराज कहलाता है। इस दृष्टि से यदि सूरदास को हम रससागर कहें तो बेखटके कह सकते हैं। कृष्ण के चले जाने पर, सायं प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर 'मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली'; व्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने में आया करता था, वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता, पर मन से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि बिरियाँ वन तें व्रज आवत।
दूरहि तें वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावत ॥

संयोग के दिनों में आनंद की तरंगें उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुख होता है, उसकी व्यंजना के लिए कवियों में उपालंभ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चंद्रोपालंभ संबंधिनी बड़ी सुन्दर कविताएँ संस्कृत साहित्य में हैं।

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?

विरह वियोग श्यामसुन्दर के, ठाढ़े क्यों न जरे ?

तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।

ससा स्यार और बन के पखेरू, धिक धिक सबन करे।

कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें सांपिन-सी लग रही है। सांपिन की पीठ काली और पेट सफ़ेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काटकर उलट जाती है, जिससे सफ़ेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अंधेरी रात में कभी कभी बादलों के हट जाने से जो चांदनी फैल जाती है, वह ऐसी ही लगती है—

पिया बिनु सांपिन कारी राति।

कबहुँ जामिनि होति जुन्हैया डसि उलटि ह्वै जाति।

इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं।

सूरदासजी का विहारस्थल जिस प्रकार घर की चार दीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे-भरे कछारों, करील के कुंजों और वनस्थलियों तक फैला है, उसी प्रकार उनका विरहवर्णन भी 'बैरिन भई रतियाँ' और 'सांपिन भई सेजिया' तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर-दूर तक पहुँचता है। मनुष्य के आदिम वन्यजीवन के परंपरागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करनेवाले इन शब्दों में कितना

माधुर्य है—'एक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़ौं, कतहुँ न श्याम लहौं।' ऋतुओं का आना जाना उसी प्रकार लगा है। प्रकृति पर उनका रंग वैसा ही चढ़ता उतरता दिखाई पड़ता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख जैसे गोपियों के हृदय में मिलने की उत्कंठा उत्पन्न होती है, वैसे ही कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होती ? जान पड़ता है कि ये सब उधर जाती ही नहीं, जिधर कृष्ण बसते हैं। सब वृंदावन में ही आ-आकर अपना अड्डा जमाती हैं—

> **मानौ, माई ! सबन्ह इतै ही भावत,**
> **अब वहि देश नंदनंदन को कोऊ न समौ जनावत ॥**
> **धरत न बन नव पत्र फूल फल, पिक बसंत नहिं गावत।**
> **मुदित न सर सरोज, अलि गुंजत, पवन पराग उड़ावत ॥**
> **पावस विविध बरन बर बादर उठि नहिं अंबर छावत।**
> **चातक मोर चकोर सोर करैं, दामिनि रूप दुरावत ॥**

अपनी अंतर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंबप्रतिबिंब रूप में देखना, भावमग्न अंतःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट-सा जाता है। ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किये हैं। 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' बहुत प्रसिद्ध पद है। विरहोन्माद में भिन्न-भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में। उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि तें घनघोरे।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे।
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुर मोरे॥

कभी अपने प्रकृत लोकसुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कहीं दयालु और परोपकारी लगते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नंदनंदन! गरजि मगन घन छाए।
कहियत हैं सुर लोक बसत, सखि! सेवक सदा पराए।
चातन कुल की पीर जानिकै, तेउ तहाँ ते धाए।
तृण किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए॥

'बदराऊ' के 'ऊ' और 'बरु' में कैसी व्यंजना है! 'बादल तक' जो जड़ समझे जाते हैं—आश्रितों के दुख से द्रवीभूत होकर आते हैं!

प्रिय के साथ कुछ रूपसाम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घनश्याम की अनुहारि!
उनै आए साँवरे ते सजनी! देखि रूप की आरि।
इन्द्रधनुष मनो नवल छवि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवन हितहि निहारि॥

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण कराकर दुख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनाता है—

हौं तो मोहन के विरह जरी, रे ! तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा ! 'पिउ पिउ पिउ' अधिरात पुकारत ।
सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु, तउ न तन की विथहिं विचारत ।
सूर स्याम बिनु व्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत ॥

और कभी समदुखभोगी के रूप में अत्यन्त सुहृद जान पड़ता है और समान प्रेम-व्रतपालन के द्वारा उत्साह बढ़ता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारो ।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह जुर कारो ।
आप दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तिहारो ।
देखौ सकल विचारि, सखी ! जिय बिछुरन को दुख न्यारो ।
जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेमबान अनियारो ।
सूरदास प्रभु स्वाति बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो ॥

काव्यजगत की रचना करनेवाली कल्पना इसीको कहते हैं । किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अंतर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छांटकर सामने रखने लगती है, तब हम उसे सच्ची कल्पना कह सकते हैं । योंही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है या दिमागी कसरत; सच्चे कवि की कल्पना नहीं । वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाये हों, उनके संबंध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले होकर आ खड़े

हुए हैं या योंही तमाशा दिखाने के लिए—कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—जबर्दस्ती पकड़कर लाये गये हैं। यदि ऐसे रूपों की तह में उनके प्रवर्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाए, तो समझिये कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अंग्रेज कवि कालरिज ने जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया, अपनी एक कविता में ऐसे रूपावतरण को आनन्दस्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावतरण (कल्पना) जीवन में साथ लगा चलता है, तब तक दुख की परिस्थिति में भी आनन्दस्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे-धीरे वह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक काव्यमीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझकर कह दिया है—'कल्पना आनन्द है' (Imagination is joy)

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिये, साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं, वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है, तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित होकर ही उसकी अंतर्वृत्ति हत्यारे का रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलंबन खड़ा होता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक

प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी, जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं, वह इसीलिए कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है, उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकारविधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक-पृथक साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है, वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापारसमष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है, वहाँ दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाए—चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो, जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है, उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया आदि के पृथक-पृथक समन्वय में नहीं। इसीसे सुन्दर अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिनी होती हैं। चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम

जीवन में सुलभ दृश्यों के अंतर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। सूरदारजी ने कई स्थानों पर कल्पना के बल से प्रस्तुल प्रसंग के मेल में अत्यंत मनोरम व्यापारसमष्टि की योजना की है। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसकी नींद उचट गयी। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृतिव्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है! देखिये—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन ता दिन तें यह पोच।
मनौ गोपाल आये मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौ बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही।
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसीका रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिबिंब देखने का कैसा गूढ़ और सुन्दर साम्य है! इसके उपरांत पवन द्वारा प्रशांत जल के हिल जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है!

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है, जैसे गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर पर पड़ी विरह से तड़फड़ा रही हैं, पर कृष्ण राजसुख के आनंद में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागर-कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करनेवाली—कल्पना कहते हैं, उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिए कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्राय: कविपरंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती, जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदासजी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह-जगह दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत की कुछ धुंधली-सी झलक दिखाने के लिए इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलंबन किया है, जैसे—

हँसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय?

जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुविधि केलि कराय।

सूख ताल पुरइनि जल छोड़े, कमल गये कुँभिलाय।

कह कबीर जो अब को बिछुरै, बहुरि मिलै कब आय॥

रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी-कभी इस लोक का अतिक्रम करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है, जैसे—

चकई री! चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।

निसि दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग।

जहाँ सनक-सिव हंस मीन, मुनि, नख रवि प्रभा प्रकाश।

प्रफुलित कमल, निमिष नहि ससि डर, गुंजत निगम सुबास।

जेहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ता फल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँडि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ॥

पर एक व्यक्तवादी सगुणोपासक कवि की उक्ति होने के कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुंधलापन नहीं है। कवि भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिए जगह-जगह आकुल दिखाई पड़ता है। इसीसे अन्योक्ति का मार्ग छोड़ जगह-जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है। इसी अन्योक्ति का दीनदयालजी गिरि ने अच्छा निर्वाह किया है।

चल चकई वा सर विषय जहँ नहिं रैनि बिछोह ।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख अंबोह, मोह दुख होय न ताके ।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।
प्रिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई ॥

इसी अन्योक्ति पद्धति को कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने इस प्रकृति निरीक्षण के विस्तृत बल से और अधिक पल्लवित करके जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है, वह हमारे नवीन हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत-से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों के तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के क्रीडास्थल से लेकर नाना मूर्त स्वरूप खड़ा करते हैं, वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटांग चित्र खड़ा करने और कुछ असंबद्ध

प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गये हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिए कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद, अलंकार आदि के ज्ञान से बिलकुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नये संप्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हींकी रचना लेकर कुछ प्रश्न किये, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गंभीर तत्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐसों के द्वारा काव्यक्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान पाखंड के प्रचार की आशंका है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसका इतिहास आदि साहित्य सेवियों के सामने रखा जाए तथा पुराने और नये रहस्यवादी कवियों की रचनाओं की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता के साहित्यिक स्वरूप की मीमांसा की जाए।

यहाँ तक तो सूर की सहृदयता की बात हुई। अब उनकी साहित्यिक निपुणता के संबंध में भी दो चार बातें कहना आवश्यक है। किसी कवि की रचना के विचार के सुभीते के लिए हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदयपक्ष और कलापक्ष। हृदयपक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कलानिपुणता के, काव्य के बाह्यांग के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्णरूप से वर्तमान है। यद्यपि काव्य में

हृदयपक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद, ये सब बहिरंग विधान के अंतर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति में सहायता पहुँचती है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदयपक्ष की प्रधानता है, कलापक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होते हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कलापक्ष ही प्रधान है, हृदयपक्ष न्यून है।

यह तो आरंभ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीतिकाव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी रसपरिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है। नादसौन्दर्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीतगोविंद में कोमलकांत पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है, पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पायी है। भावुक सूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि कहीं-कहीं उसमें संस्कृत के पद, कवि के

समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा व्रज से दूर दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अंतर पड़े या कृत्रिमता आए। श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाये जाते हैं।

अर्थालंकारों की अलबत्ता पूर्ण प्रचुरता है, विशेषत: उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्यप्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं, पर स्वकल्पित नये-नये उपमानों की भी कमी नहीं है। कहीं-कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिये गये हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठाये गये हैं। स्फटिक के आंगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ-पैर का प्रतिबिंब पड़ता चलता है। इसपर कवि की उत्प्रेक्षा देखिये—

फटिक भूमि पर कर पग छाया, यह शोभा अति राजति।
करि करि प्रति पद प्रति मन वसुधा कमल बैठकी साजति ॥

रूप या अंग की शोभा के वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा की भरमार वराबर मिलेगी। इनमें बहुत-सी तो पुरानी और बंधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सबसे अधिकता 'हरिजू' की बाल-छवि के अर्णन में पायी जाती है; यों तो जहाँ-जहाँ रूपवर्णन है, सर्वत्र ये अलकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं, पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी—सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकत भाल रुराई।

सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनों भौम सहित समुदाई ॥

अंगशोभा और वेशभूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की झक-सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। काव्य में ऐसी ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते हैं, जो सामान्यत: प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। न शनि का कोयले-सा कालापन ही किसीने आँखों देखा है, न वराह भगवान का दांत की नोक पर पृथ्वी उडाना। यह बात दूसरी है कि केशव जैसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी 'भानु मानो शनि अंक लिये' ऐसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि, दिखायी है।

हमारे कहने का यह तात्पर्य नही कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं, उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्‌भुत रूपों और व्यापारों का--जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नहीं है--काव्य में उपयोग करके क्षेत्र का विस्तार न किया जाए। उनका प्रयोग किया जाए, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाये जाएँ, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाये जाएँ, केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं। ज्योति-विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते-बिगड़ते रंगबिरंग के पिंडों, अपार ज्योति:समूहों आदि का पता लगा है, जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई

विश्वव्यापिनी ज्ञान दृष्टिवाला कवि यदि विश्व की कोई गंभीर समस्या लेकर उसे काव्यरूप में रखना चाहता है, तो वह इन सबको हस्तामलक बनाकर सामने ला सकता है।

सूरदासजी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्राय: उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (wit) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढगं उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है! वचन-रचना की उस वक्रता के संबंध में आगे विचार किया जाएगा। यहां पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते हैं जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए किया गया है। साहित्यप्रसिद्ध उपमानों को लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा 'अद्भुत एक अनुपम बाग' लगाया है; कहीं जब जैसा जी चाहा, उन्हें संगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाँ वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय संगत ठहराती हैं—

ऊधो! अब यह समुझि भई।
नंदनंदन के अग अंग प्रति उपमा न्याय दई।
कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गह्रुरु कियो कपटी जब जानी निरस गई।
आनन इंदु बरन सम्मुख तजि करखे तें न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई।
तन घनस्याम सेइ निसि बासर, रटि रसना छिजई।
सूर, बिबेकहीन चातक मुख बूंदौ तौ न सई॥

वेद

महावीरप्रसाद द्विवेदी

वेद शब्द 'विद्' धातु से निकला है । इस धातु से जानने का अर्थ निकलता है । अतएव वेद वह धर्म-ग्रन्थ है जिसकी कृपा से ज्ञान की प्राप्ति होती है— जिससे सब तरह की ज्ञान की बातें जानी जाती हैं ।

वेद पर सनातन-धर्मावलंबी हिन्दुओं का अटल विश्वास है । वेद हम लोगों का सबसे श्रेष्ठ और सबसे पुराना ग्रन्थ है । वह इतना पुराना है कि किरिस्तानों का बाइबिल, मुसलमानों का क़ुरान, पारसियों की ज़ेन्द-आवेस्ता और बौद्धों के त्रिपिटक आदि सारे धर्म-ग्रन्थ प्राचीनता में उसकी बराबरी नहीं कर सकते । इसीसे वेद को अन्यान्य धर्मावलंबी विद्वान भी आदर की दृष्टि से देखते हैं । जर्मनी में तो कुछ विद्वानों ने केवल वेद-विषयक साहित्य के परिशीलन में अपनी सारी उम्र ख़र्च कर दी है । वेद यद्यपि एकमात्र हमारे पूर्वजों की संपत्ति है, तथापि कोई 50-60 वर्षों से उसकी चर्चा इस देश की अपेक्षा पश्चिमी देशों ही में अधिक है । हाँ, अब कुछ दिनों से यहाँ के भी कोई कोई विद्वान वैदिक साहित्य के अध्ययन, अध्यापन, समालोचना और प्रकाशन में दत्तचित्त हुए हैं ।

मुसलमान उल्मा समझते हैं कि त्रिलोक का ज्ञान उनके क़ुरान मे भरा है, इससे सब लोगों को उसीका मनन और निदिध्यासन करना चाहिए; और किसी धर्म-पुस्तक के पढ़ने की

ज़रूरत नहीं। जिस मुसलमान नरेश ने अलेग्ज़ांड्रिया का विश्वविख्यात पुस्तकालय जलाकर खाक कर दिया, उसकी भी यही समझ थी। इससे जब पुस्तकालय के अधिकारी उससे पुस्तकालय छोड़ देने के लिए प्रार्थना करने गये, तब आप जानते हैं उसने क्या उत्तर दिया? उसने कहा कि इस पुस्तकालय में संग्रह किये गये लाखों ग्रंथों में जो ज्ञान-कथा है, वह हमारे कुरान में है। सच्चे ज्ञान की कोई बात उससे नहीं छूटी। इसलिए इन इतने ग्रंथों के संग्रह की कोई ज़रूरत नहीं और यदि इनकी कोई बात कुरान में नहीं है, तो वह सच्चे ज्ञान की बोधक नहीं। अतएव इस तरह भी इन ग्रंथों की कोई ज़रूरत नहीं। इन सबका काम अकेले हमारे कुरान शरीफ़ से चल सकता है। सो, इसी सच्चे ज्ञान की बदौलत इस देश के वेद-ग्रंथों का एक बड़ा अश नष्ट हो गया। वेदों की कितनी ही शाखाएँ, अनुक्रमणिकाएँ और ब्राह्मण लोप हो गये। जब अंग्रेज़ों को वेदग्रथों की चाह हुई, तब उनका मिलना मुश्किल हो गया। जयपुर पर मुसलमान बादशाहों की दया-दृष्टि रही है। इससे वहाँ का वेद-ज्ञान-भंडार 'पलीता' लगने से बच गया।

1779 ईस्वी में कर्नल पोलियर ने तत्कालीन जयपुर नरेश से वेद-चतुष्टय की नकल माँगी। उन्होंने इस बात को स्वीकार करके वेदों की नकल की जाने की आज्ञा दी। एक वर्ष में नकल तैयार हुई। पर साहब लोग समझते थे कि वेदों का नाश हो चुका है। इससे उनके वेद होने में उन्हें विश्वास न हुआ। वे समझे कि ये बनावटी वेद हैं। इस

कारण कर्नल पोलियर ने उस समय के प्रसिद्ध पंडित राजा आनंदराम को वह नकल दिखायी। उन्होंने उस ग्रंथ को यथार्थ वेद बतलाया तब वह लंदन के 'ब्रिटिश म्यूज़ियम' नामक संग्रहालय को भेजा गया। वहाँ उनकी और भी कितनी ही कापियाँ हुईं। इस प्रकार योरप में वेदों का प्रचार हुआ।

इसके पहले कोलबुक साहब ने भी वेद-प्राप्ति की चेष्टा की थी; पर किसी दक्षिणी पंडित ने स्तुतियों से पूर्ण एक ग्रंथ उन्हें दे दिया, और कहा, यही वेद है। भला, म्लेच्छों को कहीं दाक्षिणात्य पंडित वेद दे सकते हैं ? ऐसा ही धोखा एक और साहब को भी दिया गया था मदरास के किसी शास्त्री ने सत्रहवीं शताब्दी में एक कृत्रिम यजुर्वेद की पुस्तक फ़ादर राबर्ट डि-नोबिली नामक पादरी को देकर उससे बहुत-सा रुपया ऐंठ लिया। यह ग्रन्थ 1961 ईस्वी में पेरिस के प्रधान पुस्तकालय में पहुँचा। वहाँ पहले इसकी बड़ी कदर हुई। पर सारा भेद पीछे से खुल गया। अब इस तरह की धोखेबाज़ी का कोई डर नहीं। अब तो इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में बड़े-बड़े वेदज्ञ पंडित हैं। वेदों के संबंध में वे नयी-नयी बातें निकालते जाते हैं, नये-नये ग्रन्थ और टीका-टिप्पणियाँ प्रकाशित करते जाते हैं। वेदाध्ययन में वे अहर्निश रत रहते हैं। क्या हीं उत्तम बात हो, जो पंडित सत्यव्रत सामश्रमी की तरह, इस देश के भी पंडित वैदिक ग्रंथों के परिशीलन और प्रकाशन में परिश्रम अरें !

वेद को हिन्दूमात्र आदर की दृष्टि से देखते हैं, और देखना ही चाहिए। वेद हमारे अत्यंत प्राचीन धर्म-ग्रंथ है।

यथा-शास्त्र वेदगान सुनकर अपूर्व आनन्द होता है। वेदों की भाषा यद्यपि बहुत पुरानी अतएव क्लिष्ट है, तथापि उसका कोई कोई अंश बहुत ही सरस है। ऐसे अंशों के पाठ से कविता-प्रेमी जनों को वही आनन्द मिलता है जो कालिदास और भवभूति आदि के ग्रंथों से मिलता है। वेदों की 'त्रयी' संज्ञा है। त्रयी कहने से ऋक्, यजु और साम, इन्हीं तीन वेदों का ज्ञान होता है। अथर्ववेद एक प्रकार का परिशिष्टि है। ऋग्वेद में तीन ही वेदों का उल्लेख है। यथा—

"अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाया
यमृषयस्त्रयी वेदा विदुः
ऋचो यजूंषि सामानि।"

मनुस्मृति में भी मनु ने "दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्" कहकर तीन ही वेदों का नाम लिया है। परन्तु पीछे से चार वेद माने जाने लगे। श्रीमद्भागवत् और विष्णुपुराण् आदि पुराणों में तो सर्वत्र ही चार वेदों का उल्लेख है—लिखा है कि ब्रह्मा के एक एक मुँह से एक एक वेद निकला है।

सनातन धर्मावलंबी हिन्दुओं का पक्का विश्वास है कि वेद नित्य हैं। वे ईश्वर-प्रणीत हैं। कपिल ने सांख्य-दर्शन में ईश्वर की स्थिति में तो संदेह किया है—"प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः"; पर वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने में कोई संदेह नहीं किया। यथा—

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याऽसम्भवात्"।

न्याय-दर्शन के कर्त्ता गौतम को छोड़कर सब दर्शनकारों की यही राय है। सब वेदों को ईश्वर-कृत मानते हैं। अकेले गौतम ही ने उन्हें पौरुषेय अर्थात् पुरुषकृत् लिखा है। अब नहीं कह सकते, इस 'पौरुषेय' से उनका क्या मतलब था। वे वेदों को साधारण हम तुम सदृश पुरुषों के रचे हुए मानते थे, या पुरुष-प्रकृतिवाले 'पुरुष' (ईश्वर) से उनका मतलब था। यदि उन्हें पिछली बात अभीष्ट थी, तो यह कहना चाहिए कि सभी दर्शनकारों की इस विषय में एकता है। किसी किसी मुनि की तो यहाँ तक राय है कि वेद नित्य हैं और उन्हींके अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। सो, वेद ईश्वर के भी पथ-प्रदर्शक हुए। वेद नित्य हैं, इससे कल्पान्त में वे हिरण्य-गर्भ (ब्रह्मा) को आप ही आप प्राप्त हो जाते हैं। सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ ही पहले पहल पैदा होते हैं। वेद उनके पूर्वाभ्यस्त रहते हैं। इससे, स्मरण करते ही उन्हें वे आप ही आप याद हो जाते हैं। सोकर जगने पर क्या पूर्वाभ्यस्त बातें किसीको भूल भी जाती हैं ? फिर हिरण्यगर्भ को वेद कैसे भूल सकते हैं ? इस तरह के शास्त्रार्थ से कितने ही प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

इस समय आर्य-समाज में वैदिक बातों पर बहुधा विचार हुआ करता है। इस समाज के कोई कोई अनुयायी वेद का यथार्थ अर्थ जानने की चेष्टा भी करते हैं। 'त्रिवेद-निर्णय' नामक पुस्तक इसका प्रमाण है। वे भी वेदों को ईश्वरोक्त मानते हैं। परन्तु वेदों को विचारपूर्वक पढ़ने से यह बात नहीं पायी जाती। इसीसे इस समय के अच्छे-अच्छे विद्वान वेदों के

कर्तृत्व-विषय में वाद-विवाद नहीं करते। वे इसकी ज़रूरत ही नहीं समझते। वे जानते हैं वेद मनुष्य निर्मित हैं। परंतु सर्वसाधारण ऐसा नहीं मानते। इससे जो कोई वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने में शंका करता है, उसे वे घोर पापी और घोर अधर्मी समझते हैं। इसे हम बखूबी जानते हैं। तिस पर भी जो हम सर्वसाधारण के विश्वास के विरुद्ध लिख रहे हैं, उसका कारण है—"सत्ये नास्ति भयं क्वचित्।"

वेदाध्ययन से नहीं, वेदपाठ ही से मालूम होता है कि वैदिक ऋषि ही वेद-प्रणेता हैं। वैदिक सूक्तों ही में प्रणेता ऋषियों के नाम विद्यमान हैं। इन्हीं ऋषियों ने अनेक प्रकार के छंदों में स्तोत्र आदि बनाकर देवताओं की स्तुति और प्रार्थना की है। यह सब उन्होंने अपने अपने अभीष्ट साधन के लिए किया था। लिखा भी है—"अर्थं पश्यन्तु ऋषयो देवताश्छंदो-भिरभ्यधावन्।" जैसे पीछे के संस्कृत कवियों ने गणेश, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियों से पूर्ण स्तोत्र बनाये हैं, वैसे ही अग्नि, सोम, वरुण, सविता, इन्द्र आदि की स्तुतियों से परिपूर्ण स्तोत्र वैदिक ऋषियों के बनाये हुए हैं। यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि वैदिक ऋषि मंत्रद्रष्टा थे। उन्होंने योगबल से ईश्वर से प्रत्यादेश की तरह वैदिक मंत्र प्राप्त किये हैं। यदि यह बात है तो इन सूक्तों में इन ऋषियों की निज की दशा का वर्णन कैसे आया? ये मंत्र इनकी अवस्था के ज्ञापक कैसे हुए? ऋग्वेद का कोई ऋषि कुएँ में गिर जाने पर उसीके भीतर पड़े-पड़े स्वर्ग और पृथ्वी आदि की स्तुति कर रहा है। कोई इन्द्र से

कह रहा है, आप हमारे शत्रुओं का संहार कीजिये। कोई सविता से प्रार्थना कर रहा है कि हमारी बुद्धि को बढ़ाइये। कोई बहुत-सी गायें माँग रहा है, कोई बहुत-से पुत्र। कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल और दुन्दुभी पर मंत्र रचना कर रहा है। कोई नदियों को भला-बुरा कह रहा है कि ये हमें आगे बढने में बाधा डालती हैं। कहीं मांस का उल्लेख है, कहीं सुरा का। कहीं द्यूत का। ऋग्वेद के सातवें मंडल में तो एक जगह एक ऋषि ने बड़ी दिल्लगी की है। सोमपान करने के अनंतर वेद-पाठ-रत ब्राह्मणों की वेद-ध्वनि का उपमा आपने बरसाती मेंढ़कों से दी है! वे सब बातें वेद के ईश्वर प्रणीत न होने की सूचक हैं। ईश्वर के लिए गाय, भैंस, पुत्र, कलत्र, दूध, दही माँगने की कोई ज़रूरत नहीं। यह ऋग्वेद की बात हुई। यजुर्वेद का भी प्रायः यही हाल है। सामवेद के मंत्र तो कुछ को छोड़कर शेष सब ऋध्वेद ही से चुने गये हैं। रहा अथर्वबेद, सो वह तो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि मन्त्रों से परिपूर्ण है। स्त्रियों को वश करने और जुए में जीतने तक के मन्त्र अथर्ववेद में हैं। अतएव इस विषय में विशेष वक्तव्य की ज़रूरत नहीं। न ईश्वर जुआ खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह एमी बातें करने के लिए औरों को प्रेरित ही करता है। ये सब मनुष्यों ही के काम हैं, जिन्होंने वेदों की रचना की है।

परन्तु ईश्वर-प्रणीत न होने से वेदों का महत्व कुछ कम नहीं हो सकता। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से देखिए, चाहे धार्मिक

दृष्टि से देखिए, चाहे विद्या-विषयक दृष्टि से देखिये, वेदों की बराबरी और किसी देश का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। प्राचीन समय की विद्या, सभ्यता और धर्म का जैसा उत्तम चित्र वेदों में पाया जाता है, अन्य कहीं नहीं मिल सकता। वैदिक समय में भारतवासियों की सामाजिक अवस्था कैसी थी, वे किस तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे, कहाँ रहते थे, क्या किया करते थे—इन सब बातों का पता यदि कहीं मिल सकता है तो वेदों ही में मिल सकता है। अतएव वेदाध्ययन करना हम लोगों का बहुत बड़ा कर्तव्य है।

जिस रूप में आजकल वेद-ग्रन्थ देखे जाते हैं, वह उनका आदिम रूप नहीं। उनका वर्तमान रूप वेदव्यासजी की कृपा का फल है। व्यासजी के पहले वैदिक स्तोत्र-समूह एक जगह एकत्र न था। वह कितने ही भिन्न-भिन्न अंशों में प्राप्त था। क्योंकि सारे स्तोत्र-समूह की रचना एक ही समय में नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी। किसीकी रचना किसी ऋषि ने की है, किसीकी किसीने। उन सब बिखरे हुए मन्त्रों को कृष्णद्वैपायन ने एक प्रणाली में बद्ध कर दिया। तभी से वेदों के नामों के आगे 'संहिता' शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ है—'समूह', 'जमाव', 'एकत्रीकरण।' वर्तमान रूप में वेद-प्रचार करने ही के कारण बादरायण का नाम वेदव्यास पड़ा। उन्होंने समग्र वेद अपने चार शिष्यों को पढ़ाया। बहवृच नामक ऋग्वेद-संहिता पैल को, निगद नामक यजुर्वेद-संहिता वैशम्पायन को, छन्दोग नामक सामवेद-संहिता

जैमिनी को और अंगिरसी नामक अथर्ववेद-संहिता सुमन्तु को।
इन चारों शिष्यों ने अपने अपने शिष्यों को नयी प्रणाली के
अनुसार वेदाध्ययन कराया। इस प्रकार वेद-पाठियों की संख्या
बढ़ते-बढ़ते वेदों की अनेक शाखाएँ हो गयीं। मन्त्रों में कहीं-कहीं
पाठ भेद हो गया। किसी ऋषि के पढ़ाये शिष्य एक तरह का
पाठ पढ़ने लगे; किसी के और तरह का। यह पाठ-भेद यहाँ
तक बढ़ गया कि सामवेद की सौ तक शाखाएँ हो गयीं! परन्तु
अब ये सब शाखा-पाठ नहीं मिलते। कुछ ही मिलते हैं।

वेदों की व्याख्या अर्थात् टीका का नाम 'ब्राह्मण' है।
बहुत लोग संहिता और ब्राह्मण दोनों की 'वेद' संज्ञा मानते हैं।
ये कात्यायन के 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस वाक्य का
प्रमाण देते हैं। परन्तु यह बात विचारणीय है। ब्राह्मण
ग्रन्थों में वैदिक मन्त्रों का मतलब समझाया गया है। और,
और भी कितनी ही बातें हैं। अतएव उनकी रचना वेदों के
साथ ही हुई, नहीं मानी जा सकती। वैदिक मन्त्रों का आशय
समझने में जब कठिनाई पड़ने लगी होगी, तब 'ब्राह्मण' में बनाये
गये होंग, पहले नहीं। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में विशेष करके
होता के कामों का विधान है। यजुर्वेद के ब्राह्मणों में अध्वर्यु के
और सामवेद के ब्राह्मणों में उद्गाता के। यज्ञ-सम्बन्धी बातों को
खूब समझाने और यज्ञ-कार्य का सम्बन्ध वैदिक मन्त्रों से अच्छी
तरह बतलाने के लिए हीं ब्राह्मणों की सृष्टि हुई है। संहिता
पद्य में है, ब्राह्मण गद्य में। गद्य के बीच में कहीं-कहीं
'गाथा' नामक पद्य भीं ब्राह्मणों में हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्त में 'आरण्यक' हैं, जो घर छोड़कर वन चले गये हैं; अतएव जिन्होंने यज्ञ करना बन्द कर दिया है, ये 'आरण्यक' ग्रन्थ उन्हीं के लिए हैं। उन्हीं के काम की बातें इनमें हैं। 'आरण्यक' से उतरकर उपनिषद् हैं; वे सब ज्ञानकांड के अंतर्गत हैं।

यज्ञ- संबंधी क्रिया-कलाप, अर्थात् कर्मकांड का विषय जब बहुत पेचीदा हो गया और साधारण आदमी ब्राह्मण-ग्रंथों का ठीक-ठीक मतलब समझने अथवा तदनुसार क्रिया-निर्वाह करने में असमर्थ होने लगे, तब श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्रों की उत्पत्ति हुई। इन ग्रन्थों में सब बातें थोडे में समझायी गयी हैं। श्रौतसूत्रों में श्रुति (यहाँ ब्राह्मणों से मतलब है) में उल्लिखित बड़े-बड़े यज्ञों के विधान आदि हैं। गृह्यसूत्रों में जनन, मरण, विवाह आदि संस्कारों की विधि है; और धर्मसूत्रों में धर्मसंबंधी अर्थात् धर्मशास्त्रों या स्मृतियों की बात है। इनके सिवा 'अनुक्रमणी' नामक ग्रन्थों की गिनती भी वैदिक-साहित्य में की जाती है। इन ग्रन्थों में वेदों के पाठ आदि का क्रम लिखा गया है। यह इसलिए किया गया है जिससे वेदों का कोई अंश खो न जाए अथवा उसमें पाठान्तर न हो जाए। एक अनुक्रमणी में तो ऋग्वेद के सूक्तों के, मंत्रों की, शब्दों की यहाँ तक कि अक्षरों तक की गिनती भी दी गयी है !

प्रातिशाख्य, परिशिष्ट, बृहद्देवता, निरुक्त आदि भी वैदिक साहित्य के अंग हैं।

ऋग्वेद सब वेदों से पुराना है। वही सबसे अधिक महत्व का भी है। मंडल नामक 10 अध्यायों में वह विभक्त है।

कोई 15 प्रकार के वैदिक छंदों में उसकी रचना हुई है। ऋग्वेद का कोई चतुर्थांश गायत्री नामक छंद में है। ऐसे तीन ही छंद हैं, जिनका प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है। और छंदो का कम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न-भिन्न समय में हुई है। इस वेद के ऋषि प्रतिभाशाली कवि थे—कवि नहीं, श्रेष्ठ कवि थे। इसके अधिकांश मंत्रों की रचना वैदिक देवताओं को उद्देश करके की गयी है। उनमें उनके बल-वीर्य, शक्ति, प्रभुता, औदार्य आदि की प्रशंसा है। इन मंत्रों के रचयिता ऋषियों ने देवताओं की स्तुति और प्रशंसा के द्वारा उनसे लौकिक सुख प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है। बहुत से पशु, बहुत से पुत्र-पौत्र, बहुत-सा ऐश्वर्य, दीर्घायु और शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति के लिए उन्होंने देवताओं की स्तुति की है। लौकिक सुख प्राप्ति की तरफ़ उनका ध्यान अधिक था, पारलौकिक की तरफ़ कम। यज्ञों के संबंध में अग्नि और सोम आदि देबताओं के लबे-लंबे स्तोत्रों से ऋग्वेद भरा हुआ है। बीच-बीच में याज्ञिक विषयों के आ जाने से स्तोत्र जनित रसानुभव में यद्यपि कुछ विघात होता है, तथापि जिस सादगी और जिस भक्तिभाव से पुरातन ऋषियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं, वह अवश्य प्रशंसनीय है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वन्, सविता, पूषण, ऊषा आदि जितने देवताओं की स्तुति की गयी है, प्रायः उन सबसे मतलब किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ से है। अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं और प्राकृतिक दृश्यों ही को देवता मानकर, या उनपर

देवत्व का आरोप करके, उनका स्तवन किया गया है। एक ऋषि आश्चर्यपूर्वक कहता है, यह सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता ? दूसरा कहता है, ये तारे दिन में कहाँ चले जाते हैं ? तीसरे को यह विस्मय हो रहा है कि बड़ी-बड़ी अनेक नदियों के गिरने पर भी क्यों समुद्र अपनी हद से बाहर नहीं जाता ? इसी तरह आश्चर्य और कौतुक के वशीभूत होकर प्राचीन ऋषियों ने प्राकृतिक पदार्थों को देवता मानना आरंभ कर दिया। इस आरंभ का अन्त कहाँ जाकर पहुँचा, इसे कौन नहीं जानता ? ऋग्वेद के 33 देवता बढ़ते-बढ़ते 33 करोड़ हो गये।

मीमाँसा-दर्शन के कर्ता जैमिनि का मत है कि 'देवता' नाम के कोई सजीव पदार्थ नहीं। 'इन्द्र' कहने से इस शब्द ही को देवता मान लेना चाहिए। अपने दर्शन के छठे अध्याय में—

"फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्"

इस सूत्र से आरंभ करके आपने देवता-विषयक बहुत-सी बातें लिखी हैं। आपके कथन का सारांश यह है कि वैदिक देवताओं के न जीव है, न शरीर। यदि ये देवता शरीरी होते तो यज्ञ के समय आकर ज़रूर उपस्थित होते। सो तो होता नहीं। यदि यह कहें कि वे आते तो हैं, पर अपनी महिमा के बल से हम लोगों की आँखों से अदृश्य रहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि, इस दशा में यदि दस जगह भिन्न-भिन्न यज्ञ होंगे तो एक शरीर को लेकर वे कहाँ-कहाँ जाएँगे ? अतएव मंत्र ही को देवता

मान लेना चाहिए। परन्तु इस विषय में और अधिक न लिखना ही अच्छा है।

वैदिक समय में पशु-हिंसा बहुत होती थी। यज्ञों में पशु बहुत मारे जाते थे। उनका मांस भी खाया जाता था। उस समय कई पशुओं का माँस खाद्य समझा जाता था। उनके नाम-निर्देश की आवश्यकता नहीं। इस विषय के उल्लेख जो वेदों में पाये जाते हैं, उन्हें जाने दीजिए। महाभारत में चर्म्मण्वती नदी और रंतिदेव राजा का जो वृत्ताँत है उसे ही पढ़ने से पुराने ज़माने की खाद्याखाद्य चीज़ों का पता लग जाता है। सोमरस का पान तो उस समय इतना होता था, जिसका ठिकाना नहीं। पर लोगों को सोमपान की अपेक्षा हिंसा अधिक खलती थी। इसी वैदिकी हिंसा को दूर करने के लिए गौतम बुद्ध को "अहिंसा परमोधर्मः" का उपदेश देना पड़ा।

सामवेद के मन्त्र प्रायः ऋग्वेद ही से लिये गये हैं। सिर्फ़ उनके स्वरों में भेद है। वे गाने के निमित्त अलग कर दिये गये हैं। सोमयज्ञमें उद्‌गाताओं के द्वारा गाने के लिए ही सामवेद को पृथक् करना पड़ा है। सामवेद भी यज्ञ से संबंध रखता है और यजुर्वेद भी। सामवेद का काम केवल सोमयज्ञ में पड़ता है। यजुर्वेद में सभी यज्ञों के विधान आदि हैं। साम की तरह यजुर्वेद भी ऋग्वेद से उद्‌धृत किया गया है; पर, हाँ, साम की तरह प्रायः बिलकुल ही ऋग्वेद से नकल नहीं किया गया। यजुर्वेद (वाजसनेयी-सँहिता) का कोई एक चतुर्थांश मन्त्र-भाग ऋग्वेद सें लिया गया है। शेष यजुर्वेद ही के ऋषियों की

रचना है। ऋग्वेद में गद्य भी है, साम में नहीं। क्योंकि वह गाने की चीज़ है। यजुर्वेद के समय में ऋग्वेद के समय की जैसी मनोहारिणी वाक्य रचना कम हो गयी थी। उस समय स्तुति-प्रार्थना की तरफ़ ऋषियों का ध्यान कम था। यज्ञ संबंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम बनाकर उसीके द्वारा अपने सौख्य-साधन की तरफ़ उनका ध्यान अधिक था। इसीसे ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए भी उन्हें विधि-विधान बनाने पड़े थे। लौकिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति की कुंजी यज्ञ ही समझा गया था।

महापुरुष श्रीकृष्ण

डा. वासुदेवशरण अग्रवाल

भारतवर्ष के जिन महापुरुषों का मानव जाति के विचारों पर स्थायी प्रभाव पड़ा है, उनमें श्रीकृष्ण का स्थान प्रमुख है। आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक ही समय में दो ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ, जिनके उदात्त मस्तिष्क की छाप हमारे राष्ट्रीय जीवन पर बहुत गहरी पड़ी है। संयोग से उन दोनों का नाम 'कृष्ण' था। समकालीन इतिहास लेखकों ने दोनों में भेद करने के लिए एक को 'द्वैपायन कृष्ण' कहा है, जिन्हें आज सारा देश महर्षि वेदव्यास के नाम से जानता है और जिनके मस्तिष्क की अप्रतिहत प्रतिभा से आज तक हमारे धार्मिक जीवन और विश्वासों का प्रत्येक अंग प्रभावित है। दूसरे, देवकीपुत्र 'वासुदेव कृष्ण' थे, जिन्हें हम अब केवल 'कृष्ण' के नाम से पुकारते हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं के मनोरम आख्यान, उनके गीताशास्त्र के महान उपदेश तथा महाभारत के युद्ध में उनके विविध आर्योचित कर्मों की क़थाएँ, आज घर-घर में प्रचलित हैं। असंख्य मनुष्यों का जीवन, आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। वस्तुतः हमारे साहित्य का एक बड़ा भाग कृष्ण-चरित्र से अनुप्राणित हुआ है। कृष्ण के जीवन की घटनाएँ केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहलविषय नहीं हैं, वरन् वे धार्मिक जीवन की गति-विधि को नियंत्रित करने के लिए आज भी भारतीय

आकाश में चमकते हुए आकाशदीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।

जन्म और बाल्यजीवन

अष्टमी, बुधवार, रोहिणी, इस प्रकार के तिथि, वार, नक्षत्र योग में आधी रात के समय अपने मामा औग्रसेनि कंस के बन्दी-गृह में कृष्ण का जन्म हुआ। इसी एक बात से उस काल के राजनीतिक चक्र का आभास मिल जाता है। जिस व्यक्ति के जन्म के भय से ही, उसके माता-पिता की स्वतंत्रता छीन ली गयी थी, क्या आश्चर्य यदि उसके जीवन का अधिकांश समय देश के राजनीतिक कांटों को साफ़ करने और प्रजा को अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्त करने में व्यतीत हुआ हो। उस काल के जो भी उच्छृंखल, लोकपीड़क सत्ताधारी थे, उन सबसे एक-एक करके कृष्ण की टक्कर हुई। जिस महापुरुष ने योग समाधि के आदर्श को लेकर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने का उपदेश दिया हो, जिसका अपना जीवन अविचल ज्ञाननिष्ठा का सर्वोत्तम उदाहरण हो, उसके ही जीवन में कंस निपात से लेकर यादवों के विनाश तक की कथा अत्यंत करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण का बल्य-जीवन तो एक काव्य ही है। जन्म से लेकर, अथवा उससे पूर्व ही, उनके संबंध के अतिमानवी चरित्रों का क्रम आरंभ हो गया था। उनके वृन्दावन छोड़कर मथुरा आने के समय तक ये बाल-लीलाएँ, आकाश में एकत्र

होनेवाली सुन्दर सुखद मेघमालाओं की भाँति, नाना वर्ण और रूपों में संचित होतीं रहीं। बिना कहे ही हम उन्हें जानते हैं। हमारे देश के बालवर्ग के लिए तो उन कथाओं की रसमय सामग्री अत्यन्त प्रिय वस्तु है। यमुना नदी और उसके समीप के पीलु के विटपों पर लहराती हुई लताओं के कुंजों में कृष्ण के बालचरित्रों की प्रतिध्वनि आज भी जीवित काव्य कथाएँ हैं। यहीं पर उन्होंने उस मल्ल-विद्या का अभ्यास किया, जिसके कारण आगे चलकर मुष्टिक और चाणूर जैसे पहलवान पछाड़े गये। यमुना के कछारों में ही उस संगीत और नृत्य का जन्म हुआ, जो हमारी संस्कृति की एक प्रिय वस्तु है। यहीं गोवंश की वृद्धि और प्रतिपालन के वे प्रयत्न किये गये, जिनका पुनरुद्धार हमारे कृषि प्रधान देश के लिए आज भी प्राप्तव्य आदर्श के रूप में हमारे सामने हैं।

राजनीतिक चरित्र

इन रमणीय बालचरित्रों की सुखदायी भूमिका तैयार करने के बाद श्री कृष्ण ने एक दूसरे ही प्रकार के जगत में प्रवेश किया। उनका वृन्दावन छोड़कर मथुरा में आना उस जगत का देहली द्वार है। यहाँ जीवन के कठोर सत्य उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके द्वार सबसे पहला परिवर्तन शूरसेन जनपद की राजनीति में हुआ। उग्रसेन के पुत्र लोकपीड़क कंस को राज्यच्युत करके कृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस समय वह और उनके बड़े भाई बलराम दोनों

किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे। यमुना के तट पर प्रकृति के विश्वविद्यालय में स्वच्छंद वायु और आकाश के साथ मिलकर ग्वाल बालों के बीच में उन्होंने जीवन की बड़ी तैयारी कर ली थी ; परन्तु मस्तिष्क की साधना का अवसर अभी तक उन्हें नहीं मिल सका था। इस कमी को पूरा करने के लिए वे सांदीपनि मुनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। कुल-पुरोहित गर्गाचार्य और अवन्ती के विद्याचार्य सान्दीपनि इन दो नामों का भगवान कृष्ण के साथ बड़ा मधुर संबन्ध है। अवश्य ही गीता के प्रवक्ता को, अपने ज्ञान का प्रथम बीज आर्य ज्ञान परंपरा की रक्षा करनेवाले तपस्वी ब्राह्मणों से प्राप्त हुआ था।

जैसे ही सांदीपनि मुनि ने विद्या समाप्त करके कृष्ण को 'सत्यं वद, धर्मं चर' वाला अपना अंतिम उपदेश देकर विदा किया, वैसे ही परिस्थिति ने उनका संबन्ध हस्तिनापुर की राजनीति से मिला दिया। वासुदेव और उग्रसेन, कृष्ण व बलदेव को लेकर कुरुक्षेत्र स्नान के लिए गये हुए थे। वहाँ कुंती भी पांडवों के साथ आयी थीं। बस, यहीं कृष्ण और पांडवों के बीच उस घनिष्ठ संबंध का सूत्रपात हुआ, जिनके कारण आज तक हम योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ का एक साथ स्मरण करते हैं। कंस वध के समय ही कृष्ण अपनी राजनीति प्रवृत्ति का परिचय दे चुके थे। हस्तिनापुर की राजनीति के साथ संपर्क होने के बाद उस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना मिली। उन्होंने यह अनुभव किया कि इस समय

देश में एक बड़ा प्रबल संगठन उन राजाओं का है जो भारतीय राजनीति की प्राचीन लोकपक्षीय परंपराओं के विरुद्ध निरंकुश होकर राजशक्ति का प्रयोग करते हैं और जिनके कारण प्रजा में क्षोभ और कष्ट हैं। कृष्ण का बाल्य-जीवन लोक की गोद में पला था। वे स्वयं यादव जाति की अंधक-वृष्णि शाखा के, जो एक गणराज्य (Republic) था, सदस्य थे। इसी कारण उनकी सहानुभूति स्वभावतः लोक के साथ थी। जैसे जैसे कारण उपस्थित होते गये, एक एक अत्याचारी शासक से उनका संघर्ष हुआ। मगध की राजधानी गिरिव्रज में बली जरासंध का वध कराकर उन्होंने उसके पुत्र जरासंधि सहदेव का अभिषेक किया। महाभारतकार ने लिखा है, उस समय पृथ्वी पर जरासंध का आतंक था, केवल अन्धक-वृष्णि और कुरुवंशी क्षत्रियों ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी। इन्ही दोनों घरानों ने मिलकर उसका अन्त किया। चेदि जनपद में शिशुपाल का एकछत्र शासन था। शिशुपाल दुर्योधन की राजनीति का समर्थक था। दुर्योधन की शक्ति को निर्बल बनाने के लिए जरासंध और शिशुपाल का वध करके माहिष्मती की गद्दी पर उसके पुत्र धृष्टकेतु को बिठाया। नग्नजित् के पुत्रों को हराकर गांधार देश को अनुकूल किया। बलिष्ठ पांड्यराजा को मल्लयुद्ध में अपने वक्षस्थल की टक्कर से चूर कर डाला। भौम नगर में शाल्वराज को वशीभूत किया, सुदूर पूर्व के प्राग्ज्योतिष दुर्ग में भौम नरक का निरंकुश शासन था, जिसने एक सहस्र कन्याओं को अपने बंदीगृह में डाल रखा था।

उसकी निर्मोचन नामक राजधानी में सेना सहित मुर और नरक का वध करके कामरूप प्रदेश को स्वतन्त्र किया, बाणासुर, कलिंगराज और काशिराज इन सबको कृष्ण से लोहा लेना पड़ा और सभी उनके बुद्धि-कौशल के आगे परास्त हुए।

कृष्ण की राजनीतिक बुद्धि अद्भुत थी। अर्जुन ने कहा था कि युद्ध न करने पर भी कृष्ण मन से जिसका अभिनंदन करे, वह सब शत्रुओं पर विजयी होगा। "यदि मुझे वज्रधारी इन्द्र और कृष्ण में से एक को चुनना पड़े, तो मैं कृष्ण को लूंगा। आर्य विष्णुगुप्त चाणक्य का भी अपनी बुद्धि पर ऐसा ही विश्वास था। कृष्ण का मन्त्र अमोघ था। जहाँ कोई युक्ति न हो, वहाँ कृष्ण की युक्ति काम आती थी। धृतराष्ट्र की धारणा थी कि जब तक रथ पर कृष्ण, अर्जुन और गाँडीव धनुष, ये तीन तेज एक साथ हैं, तब तक ग्यारह अक्षौहिणी भारती सेना होने पर भी कौरवों की विजय असंभव है।

महाभारत का युद्ध भारतीय इतिहास की एक अति दारुण घटना है। इस प्रलयकारी युद्ध में दुर्योधन की ओर गांधार, वाल्हीक, कम्बोज, केकय, सिन्धु, मद्र, त्रिगर्त (कांगडा), सारस्वतगण, मालव और अंग आदि देशों के क्षत्रिय प्रवृत्त हुए। युधिष्ठिर की ओर से विराट, पंचाल, काशि, चेदि सृंजय, वृष्णि आदि वंशों के क्षत्रिय युद्ध के लिए आये। ऐसेभयंकर विनाश को रोकने के लिए कृष्ण से जो प्रयत्न हो सकता था, उन्होंने किया। वे पांडवों की ओर से समस्त अधिकार लेकर संधि के लिए हस्तिनापुर गये। वहाँ उन्होंने धृतराष्ट्र की

सभा में जो तेजस्वी भाषण दिया, उसकी प्रतिध्वनि आज भी इतिहास में गुंजायमान है—

कुरूणां पांडवानां च शमः स्यादिति भारत
अप्रणाशेन वीराणामेतद्याचितुमागतः ।

अर्थात् कौरवों और पांडवों में वीरों के नाश हुए बिना शांति हो जाए, मैं यही प्रार्थना करने आया हूँ।

धृतराष्ट्र ने कहा —'हे कृष्ण, मैं सब समझता हूँ, पर तुम दुर्योधन को समझा सको तो प्रयत्न करो।'

कृष्ण ने दुर्योधन से कहा—'हे तात, शान्ति से ही तुम्हारा और जगत का कल्याण होगा' 'शमे शर्म भवेत्तात' (उद्योगपर्व 124, 19)।

दुर्योधन ने सब कुछ सुनकर कहा—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्ध्येदग्रेण केशव,
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पांडवान् प्रति ।

अर्थात् 'हे कृष्ण, सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवों के लिए मैं नहीं छोड़ सकता।' बस यही युद्ध का अपरिहार्य आह्वान था। दैव की इच्छा के सामने भीष्म और द्रोण जैसे नररत्नों की भी रक्षा न हो सकी।

महाभारत में हमें कृष्ण का परिचय एक विशिष्ट रूप में मिलता है। यादव क्षत्रियों की प्रधान शाखाएँ अंधक और वृष्णिसंज्ञक थीं। कृष्ण वृष्णि वंश के थे। अक्रूर अंधक थे। वृष्णि गण राज्य की ऐतिहासिक सत्ता का प्रमाण एक प्राचीन सिक्के से

प्राप्त होता है, जिसपर 'वृष्णि राजन्यगणस्य त्रातारस्य' इस प्रकार का लेख है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ तक वृष्णि लोगों का शासन एक गण या संघ के रूप में था। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध साहित्य में भी अन्धक वृष्णियों का उल्लेख है। महाभारत सभा पर्व (अ. 81) से मालूम होता है कि अंधक और वृष्णियों का एक सम्मिलित संघराज्य था। इसे श्रीयुत जायसवाल ने उनकी 'फेडरल पार्लिमेंट' के नाम से पुकारा है। इस सम्मिलित संघ में वृष्णियों की ओर से कृष्ण और अंधकों की ओर से बभ्रु उग्रसेन संघ प्रधान चुने गये थे। इसीलिए महाभारत की राजनीतिक परिभाषा में कृष्ण को ऐश्वर्य का अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। संघसभा में राजनीति के चक्र भी चलते रहते थे। वृष्णियों की ओर से संधसभा में आहुक और अंधकों की ओर से अक्रूर सदस्यों का नेतृत्व करते थे। कभी कभी दोनों पक्षों से बहुत उग्र भाषण दिये जाते थे। पारस्परिक कलह से खिन्न होकर एक बार कृष्ण भीष्म से परामर्श करने हस्तिनापुर पधारे थे। तब भीष्म ने उनसे यही कहा, 'हे कृष्ण, मधुर वचनरूपी एक 'अनायस' शस्त्र है, तुम उसी के प्रयोग से जातियों को वश में करो। समभूमि पर सब चल सकते हैं, पर विषम भूमि पर बोझा ढोना आसान नहीं। हे कृष्ण, तुम्हारे जैसे प्रधान को पाकर यह गणराज्य नष्ट न होना चाहिए।' हम जानते हैं कि कृष्ण के प्रयत्न करने पर भी अन्त में तीक्ष्ण भाषण के कारण ही यादवों का आपस में लड़कर विनाश हो गया।

सोलह कला का अवतार

कृष्ण को हमारे देश के जीवनचरित्र लेखकों ने सोलह कला का अवतार कहा है ! इसका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणों का प्रयोग किया जाता है। दूरी के नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा बोझ के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओं से चन्द्रमा का स्वरूप संपूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहों कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण में सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का मस्तिष्क मानवी विकास का जो पूर्णतम आदर्श बना सकता है, वह हमें कृष्ण में मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र, सौन्दर्य, वाग्मिता, राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, सबका एकत्र समन्वय कृष्ण में पाया जाता है। गो दोहन से लेकर राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों के चरण धोने तक, तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्ध भूमि में गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का पैमाना है, जिसपर सूर्य की किरणों की रंग बिरंगी पेटी (Spectrum) की तरह हमें आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता है।

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद यदि गौएँ हैं, तो गीता उनका दूध है। इस देश के विद्वान किसी ग्रंथ की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कह सकते थे ? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानव-

जाति के मस्तिष्क पर हमेशा रहेगा। संसार में जन्म लेकर हममें से हर एक के सामने कर्म का गंभीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है। कर्म का जीवन के साथ क्या संबंध है और किस प्रकार उस संबंध का निपटारा करने से मनुष्य अपने अंतिम ध्येय और शांति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नों की सर्वोत्तम मीमांसा काव्य के ढंग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रंथ न केवल भारतवर्ष, बल्कि विश्व साहित्य की वस्तु है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि हैं। उनका हर एक स्वरूप यहाँ के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिसे युग में इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के बीच उनका किंकिणीक रथ बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्रीव नामक अश्वों के साथ झन-झनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, बल्कि आज तक वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है, उसी प्रकार ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओं के बीच की उच्चता तो व्याप्त करके श्रीकृष्ण चरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदण्ड की तरह स्थिर है।